
सम्पादकीय

मैं-मैं हूँ, आप-आप है, हम सब अलग-अलग हैं, पृथक-पृथक हैं, बेजोड़ हैं, अद्वितीय हैं। एक-एक का अपना व्यक्तित्व है और परमात्मा ने प्रत्येक को उसका अपना व्यक्तित्व दिया है। हमें तुलना नहीं करनी चाहिए। देखना भी नहीं चाहिए कि कौन क्या है? देखना यह है कि मैं कौन हूँ? इस प्रकृति या संसार के मानव को हमने दिया क्या है? क्या हमारी अन्तरात्मा में इस विचार का ज्ञानपुंज प्रकाशित हुआ? हमें अपनी अन्तरात्मा की ज्योति को उकसाना है। ज्योति अभी बुझी नहीं है क्योंकि हमें बोध हो रहा है कि जीवन व्यर्थ हो रहा है और जब यह बोध हो जाय तो उस बोध को ही ज्योति या ज्ञान कहते हैं।

इसी सन्दर्भ में शिक्षा के क्षेत्र में संलग्न सम्प्रति शोधछात्रों में यह ज्योति धीमी परिलक्षित हो रही है। समाज या देश युवा पीढ़ी के अथक प्रयास एवं त्याग की भावना के फलस्वरूप आगे बढ़ता है और चतुर्दिक ज्ञान विज्ञान के प्रकाश से आलोकित समाज प्रकाशित होता रहता है। आज इस शुभ अवसर पर मुख्य आयकर आयुक्त गिरीश पाण्डे जी की पंक्ति-

जुगनुओं को ढूढ़ जोड़कर सूरज बनाना है।

हर हाल में इस देश को जगमगाना है।।

एक कहानी मैं लिखता हूँ, एक कहानी तू भी लिख।

बादल- बादल मैं लिखता हूँ, पानी-पानी तू भी लिख।।

(अनुशासित इन्कलाब)

इस पंक्ति के माध्यम से मैं आप सभी से अनुरोध करता हूँ कि इस मार्तण्ड को उच्च शिखर पर पहुँचाने में मदद करें। आपके द्वारा भेजे गये मौलिक शोधपत्र ही मार्तण्ड की पहचान हैं। आपकी ज्ञान राशियों के माध्यम से यह मार्तण्ड समस्त जगत् को आलोकित करने में समर्थ होगा यही ईश्वर से प्रार्थना है।

इसी कड़ी में यह शोध मार्तण्ड पत्रिका समस्त शोधार्थियों या शोध कार्य में रुचि रखने वाले विद्वत् जनों की आकांक्षाओं की पूर्ति की दिशा में एक लघु प्रयास के रूप में प्रकाशित हुआ है। शोध मार्तण्ड में प्रकाशित होने वाले शोध पत्रों को विषय से सम्बन्धित विशेषज्ञों के परामर्श एवं उनके सुझावों को ध्यान में रखते हुए यथा स्थान मुद्रित करना ही शोध मार्तण्ड का मुख्य लक्ष्य है। शोधार्थियों को यू0 जी0 सी0 के आदेशानुसार शोधकार्य की अवधि में शोध पत्रों का प्रकाशन अनिवार्य कर दिया गया है। इसी कमी को पूर्ण करना इस पत्रिका का दूसरा लक्ष्य है। जिससे छात्र, शोधार्थी एवं अध्यापक सभी लाभान्वित होंगे।

इस शोध पत्रिका के प्रकाशन में जिन महानुभावों ने अपनी शुभकामना, परामर्श, सुझाव एवं आशीर्वाद दिया उनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ और आशा करता हूँ कि इसी प्रकार उक्त विद्वत् वर्ग का आशीर्वाद एवं सुझाव समय-समय पर प्राप्त होता रहेगा।

रघुवीर महाविद्यालय द्वारा प्रकाशित अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिका शोध मार्तण्ड का सर्वप्रथम अंक अपने नये नवेले कलेवर में आपके हाथों में है। हमारी पूरी कोशिश रही है कि शोध मार्तण्ड के शोध पत्रों में विविधता के साथ-साथ गाम्भीर्य तथा रोचकता दोनों बनी रहे। इसीलिए सर्वप्रथम 'कर्मयोग एवं भक्तियोग' जैसे मार्मिक विषय पर प्रो० रामसेवक दुबे जी का यू०एस०ए० में हुए साक्षात्कार को लिपि बद्ध कर प्रकाशित किया गया है। इसी के साथ मानव जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक एवं नैतिक दृष्टि से समुन्नत बनाने वाले प्रो० योगेश चन्द्र दुबे का 'भर्तृहरि के शतकत्रय में पुरुषार्थ चतुष्टय', प्रो० हरिनारायण दुबे का 'बदलते जीवन मूल्य' का प्रकाशन किया गया है। अमित कुमार तिवारी का 'छायावाद शक्ति और सौन्दर्य, डॉ० गया प्रसाद मिश्र का 'श्रीमद्भगवद्गीता में उपदिष्ट कर्मयोग की वर्तमान में प्रासंगिकता' ललित कुमार मिश्र का 'पाश्चात्य समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में अभिज्ञान शाकुन्तलम्,' डॉ० प्रबुद्ध मिश्र का 'नवमानववाद- भौतिक मानववाद की आध्यात्मिक परिणति,' अजय कुमार तिवारी का प्रगतिवादी आलोचना और प्रेमचन्द्र,' डॉ० सन्तोष कुमार मिश्र का कुमारसम्भव महाकाव्य में वर्णित पर्यावरण चिन्तन,' मनोज कुमार अग्रहरि का 'तैत्तिरीय ब्राह्मण में सृष्टि प्रक्रिया,' स्मृति शुक्ला का 'समकालीन संस्कृत कविता में स्त्री विमर्श,' डॉ० अवधेश कुमार श्रीवास्तव का 'भारतीय शिक्षा की गुणवत्ता एवं प्रबन्धन, डॉ० चन्द्रकान्त मिश्र का वेदों में पर्यावरण संरक्षण एवं सन्तोष उपाध्याय का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शान्ति का एक सफल प्रबन्ध जैसे महत्त्वपूर्ण शोधपत्रों को प्रकाशित किया गया है। पुस्तक समीक्षा में डॉ० राजेश कुमार तिवारी द्वारा रचित पुस्तक 'आत्मा' का प्रो० जटा शंकर द्वारा समीक्षात्मक लेख प्रकाशित किया गया है।


इस शोध पत्रिका में जिन शोधार्थियों का शोध पत्र प्रकाशित हुआ है उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप इस शोध पत्रिका के द्वारा प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है और इस आशा एवं विश्वास के साथ यह भी कहना चाहता हूँ कि वे भविष्य में शोध मार्तण्ड में जुड़े रहेंगे और प्रकाशन में अपने मौलिक शोध पत्र समय-समय पर प्रेषित करते रहेंगे। साथ ही यह शोध पत्रिका उन विभिन्न विषयों के शोधार्थियों के लिए भी उपयोगी होगी जो शोध कार्य में संलग्न हैं। आप सभी से अनुरोध है कि मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान के विविध विषयों पर व्यापक रुचि के शोधपत्र, एवं पुस्तक समीक्षाएँ प्रेषित करें।

शोध पत्रिका के प्रकाशन में सम्पूर्ण सम्पादक मण्डल के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अपने अथक परिश्रम से इन शोध पत्रों को यथा स्थान प्रकाशित करने का कार्य किया। साथ ही इस पत्रिका को मूर्तरूप देने में अग्रज उमापति पाण्डेय, जय अम्बे प्रेस बदलापुर, जौनपुर एवं शैलेन्द्र कुमार पाण्डेय, गुरु कृपा इमेजेज प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने पत्रिका के मुद्रण सम्बन्धित विविध कार्यों का निस्तारण करते हुए अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

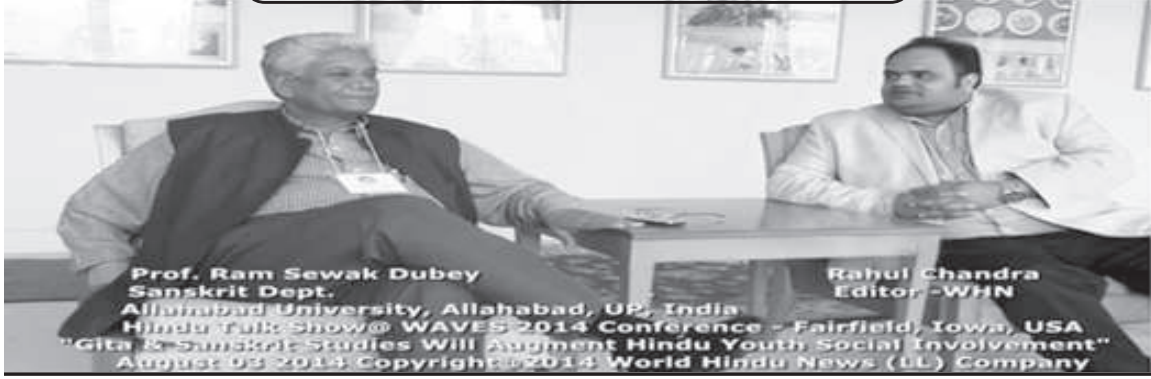
शैक्षिक अनुसंधान में रुचि रखने वाले प्रबुद्ध विद्वान्, शोधार्थी एवं छात्रों से वैचारिक सहयोग की अपेक्षा है। मुझे विश्वास है कि आप इन अपेक्षाओं को पूरा करेंगे। शोध पत्रिका पर आपके सुझाव एवं प्रतिक्रियाओं की प्रतीक्षा रहेगी।

मैं अकेले ही चला था जानिवे मंजिल मगर
लोग साथ आते गये कारवों बनता गया।

इन्हीं शब्दों के साथ!


सम्पादक
डॉ० विनय कुमार त्रिपाठी

साक्षात्कार कर्मयोग एवं भक्तियोग का व्यावहारिक स्वरूप



यह परिचर्चा महर्षि युनिवर्सिटी ऑफ मैनेजमेंट, अयोवा सिटी संयुक्त राज्य अमेरिका में आयोजित हुई थी। दिनांक 31 जुलाई से 3 अगस्त तक WAVES 2014 के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में World Hindu News के मुख्य सम्पादक श्री राहुल चन्द्रा के साथ सम्पन्न साक्षात्कार का मौलिक प्रकाशन इसका जीवन्त प्रसारण Youtube/Google पर 'World Hindu News - Professor Ram Sewak Dubey' देखा जा सकता है।

राहुल चन्द्रा- नमस्ते

डॉ० रामसेवक दुबे - नमस्कार (दर्शकों को सम्बोधित करते हुए)

राहुल चन्द्रा- आज हमारे सामने रामसेवक दुबे जी हैं। विश्व हिन्दू समाचार के HINDU TALK SHOW में। प्रो० रामसेवक दुबे जी इलाहाबाद विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रोफेसर हैं और इनका एक जो रुचि का क्षेत्र है वो वेदान्त और श्रीमद्भगवद्गीता है। रामसेवक दुबे जी आपका बहुत-बहुत स्वागत है। ये हमारा Privvibage है कि आप HINDU TALK SHOW में विश्व हिन्दू समाचार में आये हैं MAHARSHT UNIVERSITY के WAVES 2014 में और आप यहाँ पर पधारे।

डॉ० रामसेवक दुबे - आपने इस कार्यक्रम में मुझे अआमन्वित किया इसके लिए हम बड़े आभारी हैं और आपको बहुत सारा धन्यवाद देते हैं।

राहुल चन्द्रा- आपने जैसे बताया कि श्रीमद्भगवद्गीता आपने तो उसमें जैसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं। आज का विषय में समाज में हमारा बहुत बड़ा जो वर्ग है हिन्दू समाज में वो ये विश्वास करता है कि उसको प्रश्न रहता है कि कर्मयोग और भक्तियोग में क्या DIFFRENCES है और कहाँ पर कर्मयोग सही है। कहाँ पर भक्तियोग है। या पूरा भक्तियोग करने से ही मोक्ष मिल जाता है। और कर्मयोग में क्या-क्या चीजे कर सकते हैं।

और अगर समाज में समाज को चुनौती मिलती है कई बाहरी शक्ति से या आन्तरिक PROBLEM से तो उसमें कौन सा योग प्रधान हैं। इस पर आपसे आज हम वार्ता करना चाहेंगे और साथ ही साथ कि हिन्दू

समाज में जो युवा वर्ग है वो हिन्दू संगठनों में काफी उनकी जो मात्रा है वो काफी कम देखी जाती है और काफी सारा समाज का वर्ग जो है वो आज की आधुनिक जिन्दगी में काफी ज्यादा व्यस्त रहता है और सामाजिक संगठनों में समय निकालने में उसके पास काफी सारे उदाहरण रहते हैं जैसे कि परिवार में ही वो काफी व्यस्त हैं। या उसके भाव उसकी सोच को कैसे आगे बढ़ायी जा सके जिससे कि एक संगठित हिन्दू परिवार आगे आये और धर्म, वेदशास्त्र, TREDITION, CULTURE इनके बारे में साथ में वो काम करें।

डॉ० रामसेवक दुबे - बहुत ही अच्छा प्रश्न आपने किया और मैं समझता हूँ कि एक प्रश्न में आपने बहुत सारे प्रश्नों को समेट लिया है।

सबसे पहले आपने यह कहा कि भक्तियोग और कर्मयोग में क्या अन्तर है दोनों में कौन सा प्रधान है। इस विषय में जहाँ तक मैं समझता हूँ कि इन दोनों में एक CHOTCE करना संभव नहीं है। क्योंकि अगर कोई कर्मयोग को छोड़कर केवल भक्तियोग की CHOICE करे तो फिर वह अपने, अपने समाज के लिए, अपने परिवार के लिए, अपने देश के लिए कुछ नहीं करेगा। केवल लगातार उसे भक्ति ही करते रहना पड़ेगा, जो कि संभव नहीं है। केवल भक्ति से क्या करेगा वो कितनी देर उसका चित्त एकाग्र होगा क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने तो चित्त एकाग्र करने के लिए ही बहुत सारे उपाय बताये। इसका तात्पर्य ये होता है कि किसी भी व्यक्ति का चित्त बहुत देर तक एकाग्र नहीं होता और जब चित्त एकाग्र नहीं होता, तो बड़ी स्पष्ट सी बात है कि वह भक्ति में भी बहुत देर तक एकाग्र नहीं होगा। जब भक्ति में एकाग्र नहीं होगा तो भक्ति के नाम पर उसके मन में बहुत सारे प्रमाद उठेंगे, जो कि भक्ति अथवा भक्तियोग से अलग बात होगी। उसको भक्तियोग नहीं कहा जा सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में जिन दो योगों की प्रमुखता से चर्चा की वह ज्ञानयोग और कर्मयोग है। श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में उन्होंने कहा कि—

लोकेऽस्मिन्निविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ

ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्—3/3

अर्जुन से कहा कि है अर्जुन इस संसार में मैंने दो तरह के योगों का उपदेश किया है। जो ज्ञानीलोग हैं, जो संन्यासी हैं, जो साधना की ऊँचाई पर आरूढ़ हैं उनके लिए तो सांख्य-योग कहा, और जो गृहस्थ हैं, जो अभी ज्ञान की उस पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचे हैं, जो साधना का आरम्भ कर रहे हैं। उनके लिए कर्मयोग है। तो इन दोनों में से उन्होंने अर्जुन को कहा कि तुम कर्मयोग के अधिकारी हो, इस बात को बड़ा स्पष्ट करके उन्होंने कहा कि — **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में ही है, ज्ञानयोग में तुम्हारा अधिकार नहीं है। क्योंकि अगर ज्ञानयोग में अधिकार होता तो क्यों कहते **'कर्मण्येवतेऽधिकारः वर्तते'** तुम्हारा अधिकार केवल कर्मयोग में है। अर्थात् अभी अर्जुन ज्ञान की सरधना की उस ऊँचाई पर नहीं पहुँचा है जिस पर पहुँच करके सांख्ययोग की

साधना करना संभव होता है। वस्तुतः सांख्ययोग उसे कहते हैं जिसमें कि आत्मा और शरीर का पृथक् अनुभव किये जाय सांख्ययोग का तात्पर्य में स्पष्ट कर दूँ कि सांख्ययोग वह सिद्धान्त है जिसमें आत्मा अन्य है, और शरीर अन्य है इसका विवेचन किया जाता है। कितने ऐसे लोग हैं जिसको इस बात का बोध है कि आत्मा अन्य है, और शरीर अन्य है। हम तो शरीर को ही आत्मा मानें बैठे हुए हैं। क्योंकि हमारे शरीर को पीड़ा होती है तो हम कहते हैं कि आज आत्मा बड़ी दुःखी है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि अभी सामान्य व्यक्ति को शरीर में और आत्मा में कोई भेद प्रतीत नहीं हो रहा है। इसलिए जब तक उसे आत्मा और शरीर में भेद की प्रतीति न हो, भेद की अनुभूति न हो, जब तक शरीर अलग क्या वस्तु है, आत्मा अलग क्या वस्तु है। इन दोनों का अलग-अलग उसे ज्ञान न हो तब तक उसको सांख्ययोग कहाँ से समझ में आयेगा। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि **‘कर्मण्येव ते अधिकारः न ज्ञानयोगे’** तुम्हारा अधिकार कर्मयोग में है ज्ञानयोग में नहीं। ज्ञानयोगी तो वे लोग हैं जो कि साधना की ऊँचाई पर पहुँच चुके हैं। जिन्हें शरीर अन्य है आत्मा अन्य है इस बात का बोध हो चुका है। जिन्हें इस जगत् के मिथ्यात्व का बोध हो चुका है, जिन्हें यह शरीर अब मिथ्या प्रतीत होने लगा है, जिनकी दृष्टि में भोग व्यर्थ है, जिन्होंने ज्ञान को ही मुख्य मान लिया है, संसार के भोगों को जिन्होंने छोड़ने का अभ्यास किया और अब छोड़ करके सफलतापूर्वक योग में अपना मन लगा कि वे तो सांख्ययोग के पात्र हैं। लेकिन अर्जुन अभी तो साधक है इसलिए यदा कदा भगवान् भगवद्गीता में अर्जुन को कहते हैं धनंजय! धनंजय का आशय यही होता है कि जो धन को जीतने की इच्छावाला हो। कभी-कभी उसको कहते हैं पार्थ। अर्थात् तुम कुन्ती के पुत्र हो, अभी तुम्हें ज्ञानी के रूप में नहीं कहा जा सकता। अभी तुम किसी एक माँ के सामान्य पुत्र हो जिसको कर्मयोग करने का ही अवसर मिला हुआ है। तो मुख्यरूप से भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का ही उपदेश दिया है क्योंकि वह ज्ञानयोग का पात्र नहीं है। और यदि अर्जुन ज्ञानयोग का पात्र नहीं है, तो समाज के इस सामान्य मानस युद्ध में और कौन ज्ञान का पात्र है। सामान्यतः गृहस्थ कर्म के ही पात्र हैं, कर्मयोग के ही पात्र हैं और उस कर्मयोग की साधना में भक्ति बड़ी उपयोगी है। भक्तियोग के बिना कर्मयोग कभी-कभी नीरस हो जाता है। लगातार हम कर्मों को करते चले तो मन में कदाचित् उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। नीरसता उपलब्ध हो जाती है तो फिर इसके लिए विद्वानों ने कहा कि भगवद्गीता का जो भक्ति है वह कर्मयोग को बड़ी कुशलता पूर्वक किये जाने के लिए सहयोगी है इसीलिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि कर्म करो और मेरा स्मरण करो—**‘मामनुस्मरयुद्धयच्च’** मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल कर्मयोग को पूरा नहीं माना उन्होंने, केवल भक्तियोग को पूरा नहीं माना बल्कि दोनों के सामंजस्य को उन्होंने उपदिष्ट किया। तो आपने जो पूछा कि युवा के लिए क्या करणीय है तो उसे भगवान् में आस्था रखते हुए कर्म करना चाहिए यह गीता का उपदेश है क्योंकि गीता कर्मों को छोड़ने के लिए कभी नहीं कहती। यही तो अर्जुन को समझाया—**‘कर्मण्येवाधिकारस्ते**

मा फलेषु कदाचन।“कहाकि फल में तुम्हारा अधिकार नहीं है तुम कर्म करो फल तो पाओगे ही अगर बड़ी ईमानदारी और निष्ठा से कर्म कर रहे हो तो, कर्मफल का यही सिद्धान्त है कि जो भी कर्म किया जायेगा उसका फल अवश्य मिलेगा। कर्म निष्फल नहीं होता इसलिए फल की इच्छा करना, इच्छा न करना दोनों बेकार हैं। आप जिस दृष्टि से कर्मों में लगे हुए हैं उसका फल तो आपको मिलना ही है। क्योंकि फल कर्म का होता है फल इच्छा का नहीं होता, तो ऐसी दृष्टि से प्रत्येक युवक का यह दायित्व है प्रत्येक युवक का यह कर्तव्य है कि वह अपने विहित कर्म में लगे। जिसका जो भी विहित कर्म है। जो भी विद्याध्ययन में लगा हुआ है, विद्यार्थी है वह विद्याध्ययन में लगे और भगवान् का भी स्मरण करे। ये नहीं है कि अपना सारा पाठ्यक्रम छोड़कर भगवान् का ही स्मरण करें और परीक्षा में उसे बड़े अच्छे अंक मिल जायेंगे अगर ऐसा नहीं हुआ तो यह कह सकता है कि भगवान् कुछ नहीं है, क्योंकि हमने तो केवल भगवान् का भजन किया परन्तु फल हो गया। इसलिए केवल भक्ति से भी काम नहीं बनेगा और कर्मयोग का परित्याग करना भगवद्गीता का कथन ही नहीं है उन्होंने कहा कि – **“मा कर्मफल हेतुर्भूमा ते सडोऽस्त्वकर्मणि”** अर्थात् तुम्हारी आसक्ति तुम्हारा रूझान कर्म छोड़ने में नहीं होना चाहिये। इसलिए भी कर्म करना है क्योंकि तुम कर्म छोड़ नहीं सकते। कर्म तो करोगे ही गीता में अनेक बार अनेक श्लोकों से समझाया गया कि कोई भी प्राणी, कोई भी मनुष्य, कोई भी जीव जो भी शरीर धारी है वह कर्म को छोड़ नहीं सकता—

‘नहिदेहभृताशक्यं व्यक्तुमकर्मायरोषतः’ जिसने देह धारण कर लिया वह भला कैसे छोड़ेगा। किन्तु देह से देर सारे कर्म स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं, हम श्वास लेते रहते हैं, पलक मारते रहते हैं, सोना हमारा कर्म है, जागते रहते हैं नित्य क्रियाओं में लगे रहते हैं, तो कर्मों को कहाँ से छोड़ सकते हैं। क्योंकि कर्म के बिना शरीर का निर्वाह संभव ही नहीं होता। शरीर तो कर्म करने के लिए ही बना हुआ है। अन्यथा सूक्ष्म शरीर से काम चल सकता था। भगवान् ने इतने हिष्ट-पुष्ट शरीर लोगों को दिये तो इसलिए दिये कि वह कर्मयोग को करें। और कर्मयोग के साथ-साथ परमसत्ता में, परमात्मा में जिसका जो भी अभीष्ट देवता हो उसमें वह अपनी आस्था रखे रहे इससे उसको कर्मयोग करने में एक बड़ा संबल मिलेगा। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

‘मन्मना भव मद्भक्तो यद्याजी मां नमस्कुरु’ मेरे में मन लगाओ, मुझमें मनन करो, मेरे प्रति अपनी भक्ति की धारणा रखो, लेकिन ये कहीं नहीं कहा कि केवल इतना ही करो कर्म का त्याग कर दो। अगर ऐसा भगवान् को अभीष्ट होता तो वह अर्जुन को युद्ध से विरत कर देते और कहते कि तुम केवल भक्ति करो, और केवल मेरा जप करो, युद्ध मत करो और इससे तुम युद्ध में विजयी हो जाओगे। लेकिन ऐसा उन्होंने नहीं कहा, इसलिए प्रत्येक युवक का, प्रत्येक योद्धा का प्रत्येक मनुष्य का जो भी गृहस्थ जीवन में है जो भी किसी विशेष कार्य में नियुक्त है और नियुक्त होने की कामना से अपनी तैयारियाँ कर रहा है उसे कर्मयोग में लगे रहना चाहिये। ये

भगवद्गीता का परमसिद्धान्त है इसके साथ-साथ वह भक्तियोग मन में रखे क्योंकि भक्ति से उसे एक बड़ा संबल मिलता है। उससे हम अपने मन में बार-बार थोड़ा सा बदलाव लाकर के फिर नये जोश के साथ कर्म करते हैं। भक्ति भी कर्मयोग को संबल प्रदान करती है। ऐसा नहीं है कि केवल हमें भक्ति से ही सारे लक्ष्यों की प्राप्ति हो जायेगी। क्योंकि हमारे किसी भी शास्त्र के द्वारा ऐसा नहीं कहा गया।

ईशावास्योपनिषद् के द्वितीय मन्त्र में इसी बात को कहा कि—**‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेतष्ठतसमाः’** कर्मों को करते रहते हुए ही व्यक्ति को सौ वर्ष जीने की इच्छा करना चाहिए। कर्मों को न करते हुए वह क्या जियेगा। अगर वह कर्म नहीं कर रहा है तो उसे जीवित रहने का हक नहीं है। वह जीवित है भी नहीं, क्योंकि कर्म नहीं कर रहा है तो कर क्या रहा है कैसे वह इस बात को सिद्ध करेगा कि वह जीवित है जीवित रहने के लिए उसे कर्म में लगा रहना चाहिए। तो आपने ढेर सारे ऐसे प्रश्न किये जिसका उत्तर हमारे इस वक्तव्य में समाहित है।

भगवद्गीता का यही परमउद्घोष है कि प्रत्येक युवक को कर्म करना चाहिए, प्रत्येक गृहस्थ को कर्म करना चाहिए। भगवद्गीता गृहस्थों के लिये है क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थ के रूप में उपदेशक है और अर्जुन गृहस्थ के रूप में श्रोता हैं और प्रत्येक गृहस्थ के लिए कर्मयोग की साधना के लिए भगवान् का उपदेश है इसलिए भगवद्गीता प्रत्येक हिन्दू के लिए और प्रत्येक मनुष्य के लिए उपदिष्ट की गयी है।

आप यह कह सकते हैं कि ये मनुष्य के लिए ही क्यों? इसका बड़ा सुस्पष्ट उदाहरण स्वयं भगवान् ने दिया अर्जुन को समझाते हुए कर्मयोग और सांख्ययोग में उसे जब थोड़ी कठिनाई का अनुभव हुआ तो उन्होंने कहा कि देखो यह शरीर तो मिथ्या है—**‘वासांसि जीर्णानि यथा विहाय’** जैसे कोई व्यक्ति जीर्ण वस्त्रों को छोड़करके नये वस्त्र को धारण करता है। उसी तरह से यह शरीर भी जब कर्मयोग के लिए उपयोगी नहीं रह जाता जब इसे छोड़कर हम दूरे शरीर को धारण करने की कामना करते हैं। तो वस्त्र बदलने का दृष्टान्त उन्होंने दिया। यह केवल मनुष्यों पर ही लागू होता है। मनुष्य के अलावा और कोई भी जीव-जन्तु और कोई अन्य पशु-पक्षी यह सब वस्त्र धारण नहीं करते। इसलिए ये सब समग्र गीता का उपदेश उन लोगो के लिए है जो वस्त्र धारण करते हैं, जो मनुष्य हैं जो कर्मयोग में अपनी रुचि रखते हैं। और इस कर्मयोग के साथ-साथ विवेक बड़ी आवश्यकता है। बिना विवेक के कर्मयोग नहीं हो सकता। जैसे कोई यह व्यक्ति कहे कि सदा सत्य बोलो और सदा सत्य बोलने के साथ-साथ उसे कभी लोभ के आ जानेपर थोड़ी देर झूठ बोलने का मन कह जाय तो फिर यह मर्यादा नहीं है। ये कर्तव्य नहीं है, ये कर्मयोग का अनुपालन नहीं है। कर्मयोग के अनुपालन में शास्त्रों के द्वारा विहित जो मार्ग है उन्ही मार्गों पर चल करके बहुत ही निष्ठा से, बहुत ही ईमानदारी से कर्मयोग किया जाता है। कर्मयोग आराम का कोई साधन नहीं है। और यह भी नहीं है कि कर्मयोग कोई व्यवसाय है कि आप कर्मयोग में लग गये हो तो आपको जरूर सफलता मिल जायेगी। आपको ऐसा लगने लगेगा कि अब मैं कर्मयोग

में लगा हूँ तो मुझे अब सफलता अवश्य मिलेगी। हाँ मिलेगी अवश्य, परन्तु अब ऐसा नहीं है कि आप सफलता और असफलता के द्वारा कर्मयोग का परीक्षण करे, क्योंकि इसीलिए तो भगवान् ने कहा कि कर्मफल में आसक्ति मत रखो, क्योंकि कर्मफल में जब आसक्ति हो जायेगी तो आप परीक्षण करने लगेंगे कि फल मिला तो कर्मयोग हमारा सफल है। फल नहीं मिला तो कर्मयोग असफल है। इसलिए उन्होंने फल की प्राप्ति पर फल के प्रति आसक्ति पर जोर नहीं दिया।

राहुल चन्द्रा- प्रोफसर डुबे जी इसमें आजकल हमारे हिन्दू समाज में जो धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक संगठन है जो हिन्दू समाज के उद्धार करने में लगे है और अमेरिका यूरोप भारत और अलग-अलग जगहोपर हमने देखा है जो हिन्दू समाज एक धार्मिक और राजनीतिक संगठन है उनमें जो युवा वर्ग है हिन्दू समाज का। उनको ये रहता है कि हमारे पास समय नहीं है हम गृहस्थी में व्यस्त है। और जो ब्रह्मचर्य में है वह अपनी शिक्षा में व्यस्त है और जो काफी सारे जो लोग हैं संगठनों में वह काफी सीनियर है वानप्रस्थ जीवन में है और वो उसमें करते है बल्कि हमने धर्मों में देखा है कि युवा वर्ग जो है जैसे ईसाईयों में हुआ, मुसलमानों में हुआ, उनमें युवा वर्ग काफी ACITVE(एक्टिव) रहता है सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक संगठनों में तो इसमें आपकी क्या टिप्पणी है।

डॉ० रामसेवक दुबे - देखिए इस विषय में मुझे बहुत अधिक नहीं कहना है लेकिन हमारा जो धर्म है जिसे आप हिन्दू धर्म के नाम से कहते है। जो शास्त्रों के द्वारा सनातन धर्म कहा जाता है। वह बड़ा उदार है। उसमें सामंजस्य बना करके चलने के लिए कहा जाता है समन्वय बना करके सारे कार्यों से आप समन्वय बनाये, धर्म के अनुपालन में अगर आप गृहस्थ जावन के दायित्वों को कही से बाधित करते है। तो फिर वह धर्म का अनुपालन नहीं होगा, क्योंकि धर्म के अनुपालन से किसी को कष्ट नहीं होना चाहिए। यही धर्म की सबसे बड़ी पहचान है कि आप अगर धर्म का पालन कर रहे हैं तो आपसे किसी को कष्ट नहीं होगा इस बात का ध्यान रखते हुए जब अपने चाहे वह गृहस्थ जीवन हो, सामाजिक जीवन, धार्मिक जीवन हो। जब हम इसका आचरण करेंगे और इस बात का सदैव ध्यान रखेंगे कि हमारे इस आचरण से किसी को कष्ट न होगा तो फिर वह अपने धर्म का पालन बहुत अच्छी तरह से कर लेगा। जहाँ तक आपने अन्य सम्प्रदाओं की बात की, अन्य धर्मों की बात की वहाँ धर्म में इतनी उदारता नहीं है जितना की सनातन धर्म में है। उनके यहाँ थोड़ी सी कट्टरता जिसको हम कह ले वह है क्योंकि सब कुछ छोड़करके वे धर्म के लिए थोड़ी देर जरूर समय निकालेंगे। वस्तुतः अपने यहाँ भी, अपने सनातन धर्म में भी और हिन्दूओं में भी ये बात BEGNNERS (विगर्नर्स) के लिए कही जाती है जो बहुत BEGINNING में है कि भाई ठीक है सबकुछ छोड़करके थोड़ी देर तुम इस कार्य को करो। लेकिन जो सामंजस्य बना करके चलते हैं। क्योंकि किसी भी प्राणी का उपकार भी तो धर्म है, किसी भी व्यक्ति की मदद करना भी

तो धर्म हैं कोई व्यक्ति किसी आपदा में फँसा हुआ हो और आपके पूजा का वही समय है तो आप यह कहे कि तुम आपदा में फसे रहे हम थोड़ी देर पूजा करके फिर आते हैं तो क्या आपने धर्म का पालन किया? नहीं किया क्योंकि सबसे पहले प्राणियों की रक्षा, प्राणियों के प्रति सद्भावना रखता ही धर्म है।

राहुल चन्द्रा- इसमें सवाल जैसे हमने काफी आज मन्दिर भी है अमेरिका में भारत में भी काफी बड़े-बड़े हिन्दू मन्दिर है। उनमें जो MANAGEMENT COMMITTEE होती है उनमें काफी मुश्किल होता है युवा वर्ग को COMMITTEE में लाना ORGINIZATION OPPATION में लाना क्योंकि जो हिन्दू युवा वर्ग है उसको वह भावना और जो जज्बा है धर्म के लिए आने में समय लगता है आपका क्या एक कोई टूल (Tool) है जैसे उपाय जिससे कि हिन्दू जो युवा वर्ग है उसमें वह भावना आये और हिन्दू सामाजिक, राजनीतिक संगठनों में वो जुड़े। आपने गृहस्थ जीवन के साथ भी अपने ब्रह्मचर्य जीवन के साथ भी और उसके साथी भी वे जुड़ सकते है।

डॉ० रामसेवक दुबे - हाँ उसका एक ही उपाय है हमारे शिक्षाविदों को ये चाहिए कि आरम्भ से ही PRIMARY EDUCARION से ले करके HIGER EDUCATION तक इस प्रकार की शिक्षा को एक अनिवार्य अंग बना दे, चाहे वह विज्ञान पढ़ रहा हो चाहे TECHTNOLOGY पढ़ रहा हो, चाहे SCINENCE पढ़ रहा हो, चाहे किसी भी आयाम में वह अध्ययनरत हों क्योंकि कई बार ऐसा देखा जाता है कि उसे धर्म के महत्व का पता ही नहीं है। उसे कैसे धर्म का पालन किया जाय कर्मयोग और भक्तियोग क्या है इसके बारे में वह समझता ही नहीं। वह यह सोचता है कि ये तो उन लोगों के लिए है जिनको और कोई काम नहीं है। तो वह उसे उससे परिचित ही नहीं है। जैसे उसे अपने SUBJECT का ज्ञान कराया जाता है उसी तरह से हमारे शिक्षा विदों को ये चाहिए कि विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में कम से कम INTER LEVEL SECITION तक तो जरूर इस बात का निर्धारण करे कि उसे धर्म का, कर्म का और अपने अधिकार और कर्तव्य का, अपने द्वारा किये जा रहे है बड़ों के प्रति उसका क्या कर्तव्य है। इसका ज्ञान कराया जाय तो इस मामले में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं आयेगी। और वह अपने आप वह युवक जानता रहेगा कि मुझे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। मुझे लगता है कि इसका एक ही उपाय है। बल पूर्वक किसी को धर्म में प्रविष्ट नहीं कराया जा सकता, क्योंकि आप बल पूर्वक धर्म में प्रविष्ट करा रहे है तो एक दिन वह क्रान्ति करता है। भागता है और धर्म को समझे बिना धर्म को करते-करते अधर्म करने लगता है। इसलिए शिक्षा में इस बात को ले आना चाहिए।

राहुल चन्द्रा- शिक्षा में जैसे कि हमने काफी C.B.S.E MISSIONARY SCHOOL में काफी और स्कूलों में भी देखा है कि MORAL EDUCATION होता है BUT उसमें एक SUBJECT होता है sanskrit भी एक subject होता है, BUT MORAL EDUCATION जो SUBJECT है एसमें हिन्दू धर्म के PURSPECTIVE से MORAL EDUCATION नहीं है।

डॉ० रामसेवक दुबे - इस बात को मैं बिल्कुल साफ तौर से यह कहता हूँ कि जो रखे गये है पाठ्यक्रम में वे

पूर्ण नहीं हैं और उनको पढ़ाने के लिए उस विषय के विशेषज्ञों की नियुक्तियाँ नहीं की गयी हैं। किसी अन्य विषय के अध्यापक से उसको पढ़ाया जाता है। और वह भी केवल फर्जदारी ही करता है। अगर इस विषय के विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाय तो जो कि धर्मशास्त्र के आचारशास्त्र के ज्ञाता हैं। तो फिर वे अच्छी तरह से विद्यार्थी को पढ़ायेंगे उनको समझायेंगे और उनके मन में उस बात को बैठा देंगे और जब एक बार व्यक्ति के मन में कोई बात बैठ जाती है तो वह वहाँ धीरे-धीरे घर कर जाती है, मजबूती से स्थापित हो जाती है। फिर उसको अपने आप अपने कर्तव्यों के प्रति लगाव हो जाता है। उसे धर्म के प्रति अनुराग होता है। और फिर उसमें बल लगाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि हर प्राणी अपने परम अवाप्तव्य को प्राप्त करना चाहता है।

राहुल चन्द्रा- तो जैसा कि हमें प्रोफेसर दुबे जी ने बताया कि आपने कि PRIMARY SECONDARY SENIOY SECONDARY में एक MORAL EDUCATION जो कि हिन्दू PERSPECTIVE हिन्दू धर्म के नजरिये से उसको अगर शुरू से पढ़ायी जाय तो हमारे युवा वर्ग को जब बड़े होंगे तो उस समय वे हिन्दू सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संगठनों में वह उस भावना को समझेंगे और उसमें वो अपने आप को जुड़ेंगे, उसको सशक्ति करण करेंगे जो कि एक OVERALL हिन्दू समाज के लिए अलग-अलग AREAS में WORK करने हैं।

आपसे एक और जैसे कि नये सरकार आये हैं माननीय श्री प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी जी के अध्यक्षता में और उसमें संस्कृत हिन्दू HERITAGE एक PILLER है उनके एक PHILOSOPHY का U.P MENTSION एजेण्डा का उसमें हमने देखा कि SANSKRIT HERITAGE WEEK भी सब जगह बनाया जायेगा। और अब ये भी बात उठा है कि श्रीमद्भगवद्गीता को COMPULSARY किया जाय। भारतीय स्कूलों में C.B.S.E. NON C.B.S.E में उसके बारे में आपकी क्या OPINION हैं।

डॉ० रामसेवक दुबे -यह विचार तो मैंने अभी अखबारों में पढ़ा था कि प्रधानमंत्री जी की यह इच्छा है और सी0बी0एस0ई0 बोर्ड में भी इण्टरमीडिएट तक संस्कृत पढ़ाये जाने की सूचनाओं को भी पढ़ा था। भगवद्गीता को अनिवार्य करना तो बहुत अच्छा है। लेकिन उस अनिवार्य किये गये विषय को कौन पढ़ायेगा। जब तक उसको ठीक से समझा हुआ व्यक्ति नहीं पढ़ायेगा तब तक वह किताबों में बन्द पड़ा रह जायेगा और कोई न समझ पायेगा। और न ही समझा पायेगा। इसीलिए पाठ्यक्रम में भगवद्गीता का या इस तरह के आचार शास्त्रों को निर्धारित करना बहुत अच्छी बात है, बहुत महत्वपूर्ण है। लेकिन उससे ज्यादा महत्वपूर्ण ये है कि उनको पढ़ाने के लिए उस विषय के विशेषज्ञों को वहाँ रखा भी जाय। जिससे कि विद्यार्थी को वह अपने इस शास्त्र के प्रति आकृत कर सके उसके मन में उस बात को बैठा सके। उस सिद्धान्त को समझा सके और इतनी मजबूती से समझा दे कि फिर वह किसी अन्य के द्वारा भी मार्गभ्रष्ट न किया जा सके। कोई उसे बर्गला न सके और कभी वह अपने उस विषय से हट न सके। तो यह उपयोगी होगा अन्यथा यह केवल एक राजनीतिक उपक्रम बनकरके

रह जायेगा।

राहुल चन्द्रा- जी हमने देखा है कि काफी सारे स्कूलों में हमने भी बचपन में संस्कृत PRIMARY और SECONDARY में 8 वीं कक्षा तक पढ़ी और काफी सारे बच्चे पढ़ते हैं। संस्कृत तो उसको एक पास करने के लिहाज से देखते हैं कि उसमें हम पास हो जायें और उसके बाद 8वीं कक्षा के बाद संस्कृत भूल जाते हैं जो उन्होंने पढ़ा होता है। ये क्यों हो रहा है।

डॉ० रामसेवक दुबे - उसका कारण यही है कि उनके मन में उसके प्रति रूचि उत्पन्न हुई ही नहीं, अगर उसके प्रगति उस बच्चे के मन में रूचि उत्पन्न हुई होती तो फिर वह उसको छोड़करके भागने की चेष्टा न करता। और दूसरी एक और बात है कि संस्कृत को शिक्षा के साथ-साथ उसको नौकरियों से भी जोड़ा जाय। कभी-कभी संस्कृत पढ़ करके कोई आया है। तो उसको हटाओं यह व्यक्ति कोई काम नहीं कर पायेगा, इस तरह की धारणाएँ भी समाज में व्याप्त है, अधिकारियों में व्याप्त हैं। तो उस संस्कृत को तब तक कि समाज की अन्य गतिविधियों से नहीं जोड़ा जायेगा, तब तक कोई विद्यार्थी उसको क्यों पढ़ेगा, और जब नहीं पढ़ने पायेगा, नौकरी नहीं पायेगा उसके बल पर तो उसे जल्दी से छोड़कर के उन विषयों की ओर भागना चाहेगा। जिसके आधार पर उसको नौकरी मिलने की बड़ी संभावना है। भले वह उस विषय को पढ़ करके नौकरी नहीं पा रहा है लेकिन उसके मन में यह रहता ही है कि हम बहुत जल्दी DOCTOR बन जायेंगे ENGINEER बन जायेंगे तब हमें नौकरी मिल जायेगी तो ठीक है DOCTOR, ENGINEER भी बने वह परन्तु अगर इन शास्त्रों को उसको पढ़ाया जाय जो M.B.B.S. का COURSE है। हफ्ते में एक ही दिन का COURSE रखा जाय। कम से कम उसे भगवद्गीता के कुछ श्लोकोंको हफ्ते में एक ही दिन कोई विशेषज्ञ जो करके पढ़ा दे। जो ENGINEERS हैं उनके पाठ्यक्रम में भी कुछ इस तरह का रखा जाय तो उसके मन में वह बातें जमती रहेंगी और फिर धीरे-धीरे वही उसकी बलवती इच्छा बनेगी। उसको फिर बलपूर्वक धर्म में और धार्मिक संगठनों में भी नहीं लाना पड़ेगा। क्योंकि हर व्यक्ति अपने कल्याण की कामना करता है, हर व्यक्ति भगवान् से छरता है, हर व्यक्ति की आस्था भगवान् में है। नास्तिकों में भी भगवान् के प्रति आस्था है मैं इस बात को कहता हूँ कईबार कोई नास्तिक भी है तो अभी नास्तिक क्यों है। इसलिए कि दूसरे पक्ष में वह भगवान् की सत्ता को मानता है तभी तो नास्तिक है अगर वह भगवान् की सत्ता को न मानता तो नास्तिक किससे होता।

इसलिए सबको भगवान् के प्रति आस्था है अपने कल्याण के प्रति सब बड़े जागरूक हैं। बस आरम्भ से लेकर के युवा वर्ग तक उनको सारे पाठ्यक्रमों में अपनी भारतीय संस्कृति के प्रति, भारतीय शास्त्रों के प्रति जो हमारे नैतिक कर्तव्य है उनके प्रति एक पाठ्यक्रम जरूर रखा जाय, उसको पढ़ाने वाले योग्य व्यक्ति हो और वह समझा सके उसको, तब हमें इस प्रकार के कठिनाईयों का अनुभव नहीं होगा। अगर ऐसा नहीं हुआ तो धीरे-धीरे

धर्म हिन्दू धर्म जिसे आप कह रहे हैं उसकी यही दशा देखने को मिलेगी।

राहुल चन्द्रा- जैसा कि प्रोफेसर दुबे जी ने कहा है कि संस्कृत भाषा को EMPOWERMENT शक्तिशाली करने के लिए जो एक वैदिक भाषा है। और जिससे भारत की सारी भाषायें निकली हैं और VEDAS को और जो हमारे SECRET पवित्र TEXT हैं। उनको समझने के लिए भी संस्कृत भाषा का ज्ञान आवश्यक है उसके शक्ति करने के लिए भारत में जो EDUCATION INSTITUTION हैं। भले वो SCIENCE TECHNOLOGY MEDICINES उसमें भाषा का एक ऐसा COURSE रखा जाय MATERIAL PROGRAME धर्म HERITAGE, TRADITION, SCRIPTURE जो है उसमें वो FACULTY हो। और एक तरह का जिसमें MATERY COURSE हो जिसमें AUTOMATICALLY संस्कृति LANGUAGE के जो FACULTIES है उनको REQUIREMENT ALL OVER बढ़ेगा। और उससे लोगों में संस्कृत भाषा को समझने में रूचि रहेगी क्योंकि वह EMPLOYMENT देगा और एक CARRER OPPORTUAITY देगा। और यही एक LONG TURMSUNSTAINABLE तरीका है। संस्कृत भाषा जो है हिन्दू धर्म सनातन हिन्दू धर्म वैदिक जो हमारा CIVILIZATION है उसको SUSTAIN PROTECT PRESERVE करके रखने का हमारा ये विश्वास है कि ये जो आवाज है जो आपने आज हमें ज्ञान दिया है। और आपसे बात हुआ है वह हमारे जो HUMAN RESOURCE EDUCATION DEPARTMENT हैं उन तक पहुँचे। और जैसा कि आपने कहा कि WEEKLY HERITAGE CELEBRATION से वह एक लम्बा- SOLUTION ही है। एक लम्बा SOLUTION है संस्कृत को INSTITUTIONAL करना हर संस्था हर N.G.O. प्रौद्योगिकी में उसको एक COMPULSARY SUBJECT और उसी में ही एक COURSE MATERIAL, DEVELOPMENT जो कि FOR MORAL SCIENCE WITH THE HINDU PROSPECTED

डॉ० रामसेवक दुबे - बिल्कुल, यही दोनों तरह से लाभदायक हैं। इससे हमारा देश जो है उसका भविष्य कल्याणमय होगा और सारे युवक आस्थावान होंगे, कर्तव्य के प्रति उनमें जागरूकता बढ़ेगी। और उन्हें सफलता मिलेगी मैं तो यहाँ इस MAHARSHT UNIVERSITY OF MANAGMENT के इस SEMINAR में आ करके मैंने यह देखा कि विदेशियों के मन में जिस प्रकार की धारणा हमारे शास्त्रों के प्रति उठी है। जिस तरह से उनके मन में एक बड़ी प्रबल जिज्ञासा उठी है।, भगवद्गीता का क्या संदेश है, यज्ञ क्या हैं। उसको देखकरके मुझे बड़ा उत्साह हुआ। जब विदेशियों के मन में इस प्रकार की भावना है तो भारतीयों के मन में उनके तो रक्त में ही यह धारणा बसी हुई है केवल उसे जगाने की बात है। और उसको जगाने के लिए हमारे जो सरकारी संसाधन हैं जो भी प्रभावी उपक्रम है अगर वह किये जाते हैं तो फिर हमें इस मार्ग में नितान्त सफलता मिलेगी। मुझको यह पूर्ण विश्वास है।

राहुल चन्द्रा- धन्यवाद रामसेवक दुबे जी आज आप यहाँ MAHARSHT UNIVERSITY में WORLD ASSOCIATION FOR VEDIC STUDIES के CONFERENCE 2014 में आप हैं और आपने यहाँ पर सबके PAPER RESEARCH

PRESENTATION देखा आपका क्या MESSAGE है। हमारे जो AUDIENCE है। बाकी हिन्दू समाज है और बाकी जो हमारे समाज के प्रति मित्र है जो कि इस संस्था जो वेद है उसको सशक्ति करण कर सके। और MAHARSHT UNIVERSITY के जो MESSAGE है हिन्दू धर्म का VVEDIC TRANSEENDENTAL MEDITATION के लिए क्या आपका MESSAGE है।

डॉ० रामसेवक दुबे - वैदिक STUDIES में जिस प्रकार से मैंने यहाँ देखा विद्वानों का लगाव और उत्साह अगर इसी गति से हम लोग काम करते रहे तो निश्चित ही वैदिक साहित्य से मानव कल्याण के लिए बहुत सारे विषयों को निकाल करके प्रस्तुत किया जा सकेगा। जो कि देश ही नहीं पूरे विश्वके कल्याण के लिए बड़ा उपयोगी होगा। इस दिशा में WORLD ASSOCIATION FOR VEDIC STUDIES की बड़ी भूमिका है और मुझे तो यह लगता है कि यह बहुत ही एक अच्छा उपक्रम है। इस प्रकार के सम्मेलन पूरे विश्व में स्थान-स्थान पर होने चाहिये। ये जगत् कल्याण के लिए बहुत उपयोगी कदम है और मैं इस बात का आह्वान करता हूँ कि अगर इस प्रकार के कार्यक्रम होते रहते हैं तो वेदों में जगत् कल्याण के लिए जो भी तत्त्व निहित हैं। उनका हम दोहन करके प्रणियों के सामने रखेंगे। और इससे जगत् का कल्याण होगा।

राहुल चन्द्रा- बहुत-बहुत धन्यवाद रामसेवक दुबे जी जो इलाहाबाद विश्व विद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रोफेसर है। आप विश्व हिन्दू समाचार के HINDU TALK SHOW पर आयें और आपने मूल्य ज्ञान दिया। कर्मयोग भक्तियोग आज का जो युवा वर्ग है उसके लिए क्या मार्ग है साथ में आपने जैसा कि बताया कि संस्कृत जो हमारी वैदिक भाषा है उसके PROTECTION SUSTANING, और PRESERVENCE के लिए क्या-क्या सरकार STEP उठा सकती है। इससे हमारे धर्म को और हमारे दर्शको को ज्ञान मिला है। और उसका आपके आभारी है। बहु-बहुत धन्यवाद नमस्कार

डॉ० रामसेवक दुबे - नमस्कार — बहुत धन्यवाद

परिचर्चा / लेखक

डॉ० रामसेवक दुबे

उपाचार्य

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

बदलते जीवन मूल्य

प्रो० हरि नारायण दुबे

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

मो० : 9936917424



बदलते जीवन मूल्यों का सबसे भयावह पहलू है— सामाजिक जीवन में बिखराव पैदा करने वाली अपसंस्कृतियों का तेजी से उदय। इनके प्रभावों से सामाजिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग सामाजिक सरोकारों से न केवल दूर होते हैं, बल्कि कट जाते हैं। व्यक्ति केन्द्रित भोगवादी जीवन—दृष्टि क्रमशः पाँव पसारने लगती है। यह तथाकथित व्यक्ति केन्द्रित नवसुखवाद सुख की व्याख्या करने लगता है। आज हमारा भारतीय समाज ऐसे ही नवसुखवादी जीवन मूल्यों से धीरे-धीरे ग्रसित हो चला है। उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के चलते अनेक देशों के जीवन मूल्य परस्पर घुलमिल से गये हैं, जो एक सहज प्रक्रिया की देन है। इस पारस्परिक मेलजोल या संगम में किसी एक की प्रधानता तथा दूसरे का समावेश होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

भारत की अपनी सहस्राब्दियों से प्रवाहमान एक सांस्कृतिक अस्मिता जीवन पद्धति रही है। उसमें अपना जीवन मूल्य, दर्शन तथा प्रबल आध्यात्मिक प्रवाह रहा है। कितनी संस्कृतियाँ इसके प्रवाह में आकर मिलीं और भारतीयता का स्वरूप ग्रहण कर उपर्युक्त शक्तिशाली परम्परा की अभिन्न अंग बन गईं। जो भाग अपनी या अन्य परम्पराओं का अस्वस्थ अथवा अग्राह्य था, वह हमारी स्वस्थ परम्परा के स्वस्थ प्रवाह में आकर स्वयं विघटित और नष्ट हो गया। भारतीय परम्परा की अन्य संस्कृतियों के साथ मिलजुलकर आगे बढ़ते रहने की यह प्रवृत्ति एक ओर जहाँ इसकी विशेषता एवं जीवन्तता मानी जा सकती है, वहीं कभी-कभी यही प्रवृत्ति इसकी कमजोरी भी बनती गई। विदेशी आक्रमणों एवं आक्रान्ता संस्कृतियों से ग्रसित होने पर भी हमारी सांस्कृतिक अस्मिता कभी भी कमजोर नहीं हुई। भले ही कुछ दिन के लिए इसकी गति में शिथिलता आई हो।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक के काल तक हमारे जीवन मूल्य पर आने वाले बाहरी प्रभावों के खतरों को हम टालने तथा अपनी पूर्ण पहचान को संजोने एवं सुरक्षित रखने में लगभग सफल रहे। लेकिन उक्त सदी के उत्तरार्द्ध काल से आज की वर्तमान स्थिति तक के काल में हमारे जीवन मूल्यों में गम्भीर बदलाव आया है। विकास एवं आधुनिकीकरण की नवोदित प्रक्रियायें हमारी परम्परा को केन्द्र से हटाकर इस बीच हाशिये की ओर

लगातार धकेलने लगी हैं। विकासवादियों के अनुसार विकास एवं आधुनिकीकरण हमें परम्परागत मूल्यों से हटाकर अथवा उनकी मान्यताओं में न्यूनता लाकर नवोदित समाज को एक नयी दिशा एवं जीवन मूल्य दिया करता है। परन्तु हमारे समाज में ऐसा होता हुआ दिखायी नहीं दे रहा है। उल्टे अस्मिता और पहचान के संकट को लेकर समाज में एक नया प्रतिरोध जागृत होता हुआ दिखायी देने लगा है। इतना ही नहीं, इस प्रतिरोध ने आकामक ढंग से विकास की आधारगत अवधारणाओं को गम्भीर चुनौती देना शुरू कर दिया है। धर्म के प्रति आग्रह अब पुनः सशक्त होते जा रहे हैं तथा समाज के कतिपय समूहों ने साम्प्रदायिक भावना के प्रति उग्र एवं कट्टरवादी दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। इसके साथ ही कुछ समूहों के लोग प्रजाति, भाशा, धर्म, क्षेत्रीयता और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा-चिह्नों को लेकर नयी जातीय भावनाओं को उभारना भी शुरू कर दिया है। इस बीच सांस्कृतिक स्वायत्तता की नवीन माँगों ने अलगाववाद जैसे दुःखद मार्ग को अपनाने तक की स्थिति पैदा कर दी हैं। संवैधानिक स्वायत्तता की नई-नई माँगों ने हिंसात्मक मोड़ लेना शुरू कर दिया है। इन सारी बदलावजन्य परिस्थितियों के चलते विश्व व्यवस्था में आज अस्थिरता आने लगी है तथा विकास पथ संकटाग्रस्त हो चला है। प्राकृतिक संसाधनों का अपरिमित एवं अनियंत्रित दोहन और इनके चलते बढ़ता हुआ पर्यावरण प्रदूषण पूरी जीव संस्कृति के लिए खतरा बन गया है। गरीब देशों में पाँच या सात सितारा होटल, आधुनिकतम महाभयंकर अस्त्र-शस्त्र, विविध प्रकार के आकर्षक विमान, नाना सुविधाओं से लैश मँहगी-मँहगी कारें, क्या गरीब लोगों अथवा विपन्न लोगों का मजाक उड़ाते नजर नहीं आने लगे हैं? सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि ये सब आज की भौतिकता प्रधान समाज की अनिवार्यताएँ मानी जाने लगी हैं। नवधनाढ्य एवं सम्पन्नवर्गीय वर्गों में असीमित भोग लिप्सा हमारे जीवन मूल्यों में विसंगतियाँ उत्पन्न कर रही हैं। नई-पुरानी पीढ़ी में लगातार संवादहीनता बढ़ती जा रही है। हमारा पारिवारिक ढाँचा टूट रहा है। चिरकाल से मान्य नैतिक मर्यादाएँ बड़ी तेजी से शिथिल होती जा रही हैं।

वस्तुतः विकास-तन्त्र अपने साथ अपने अनुकूल एक नया आचार-विधान भी रचता और विकसित करता चलता है। इस प्रक्रिया में नवोदित मूल्य-विधान अथवा अपने ढंग से सृजित मूल्य विधान पारम्परिक एवं स्थापित मूल्य विधान में विश्रृंखलन पैदा करने लगते हैं। सामाजिक परिवर्तन तथा नवोदित मूल्य विधान तकनीकी विकास एवं आर्थिक-सामाजिक सन्दर्भों में समय-सापेक्ष एक सहज प्रक्रिया है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के द्रुतगामी विकास के फलस्वरूप बीसवीं सदी में एक जटिल प्रश्न सांस्कृतिक अस्तित्व और अस्मिता का खड़ा हो गया है। आज एक तरफ विश्वग्राम की परिकल्पना दिखायी देने लगी है तो दूसरी ओर व्यक्तिवाद, विखण्डनवाद, प्रजातिवाद, भाशावाद एवं क्षेत्रीयतावाद के आग्रह एवं दुराग्रह भी तेजी से उभरने लगे हैं। जातीय भावना का तीव्रोत्कर्ष राष्ट्रों और राज्यों को अब विखण्डन की ओर ढकेलता जा रहा है। आज के बौद्धिक जगत् में एक तरफ

तो यह नारा सुनायी पड़ता है कि **‘ईश्वर मर गया’** तो दूसरी तरफ ठीक इसके विपरीत लोगों की धार्मिक भावनाएँ निरन्तर बलवती होती जा रही हैं। इतना ही नहीं उनकी एक धारा कट्टरवाद की ओर मुड़ती जा रही है। इस धारा की अभिव्यक्ति क्रमशः तीव्रतर होती हुई अब आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को चुनौती देती दिखायी पड़ रही है। आज जिस गति से प्रौद्योगिकी एवं उद्योग जगत् में परिवर्तन हो रहा है, उस गति से सामाजिक ढाँचे और मूल्यात्मक आधारों में नहीं। इन सबके फलस्वरूप हमारा सांस्थानिक ढाँचा चरमराने लगा है। इससे अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न होने लगी हैं। सामाजिक नैतिकता एवं बहुशः मान्य मूल्यों के ह्रास से मूल्यहीन और भोगवादी दृष्टिकोण पुष्ट होता जा रहा है। सामाजिक सरोकारों में न्यूनता आने लगी है। आज हमारा समाज क्रमशः लक्ष्यहीन होता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप एक विघटनात्मक अराजकता फैलती जा रही है। बीसवीं एवं इक्कीसवीं के पूर्वार्द्ध सदी में उपजी इस प्रकार की विडम्बनाएँ इक्कीसवीं सदी में नही आने वाली सदियों में विरासत के रूप में मिलने जा रही हैं।

इक्कीसवीं सदी में सम्पूर्ण विश्व में एक एक नई जीवन शैली नवोदित मूल्यगत ढाँचा तथा उसके साथ बाजार से उपजी उपभोक्तावाद का दर्शन क्रमशः अपना वर्चस्व स्थापित करता जा रहा है। आज चारों तरफ उत्पादन बढ़ाने तथा शारीरिक भोग पर बड़ा जोर है, यह व्यक्ति के भौतिक सुख एवं भोग-वृत्ति की संतुष्टि के लिए हो रहा है। **‘सुख’** की पारम्परिक परिभाषा अब बदल चुकी है। आज अधिक उत्पादन तथा अधिकतम **‘उपयोग’** ही वास्तविक सुख माना जा रहा है। उत्पादन्य संस्कृति एक ओर तो लोगों को भोगवादी सुख के मायाजाल में फँसती जा रही है, तो दूसरी तरफ व्यक्ति के चरित्र और परम्परा स्थापित मूल्यों की जड़ों को भी धीरे-धीरे कमजोर करती जा रही है। हम सब जाने-अनजाने उत्पाद को समर्पित होते जा रहे हैं। मानव आज मानव न रहकर एक कमोडिटी बनता जा रहा है।

सामाजिक वैज्ञानिकों के सामने एक बड़ा प्रश्न यह खड़ा हो गया है कि भारत जैसे परम्परा एवं मूल्यवादी देश में वर्तमान उपभोक्तवादी संस्कृति का विकास किन कारणों से हो रहा है? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय संस्कृति की प्रकृति की ऐतिहासिक समीक्षा से पाया जा सकता है। सामन्ती संस्कृति के तत्व भारतीय जीवन में बहुत पहले से ही न्यूनाधिक विद्यमान रहे हैं। उपभोक्तावाद किसी न किसी रूप में इस संस्कृति से जुड़ा माना जा सकता है। आज पूर्व सामन्तों का रूप बदल गया है और नवसृजित सामन्ती प्रवृत्ति नवभोगवाद का रूप ले चुकी है। हम सांस्कृतिक अस्मिता की बात चाहे जितनी करें, परन्तु इस सच को झुठलाया नहीं जा सकता है कि हमारी परम्पराओं का तथा स्थापित मूल्यों का ह्रास अवश्य हुआ है। हमारी आस्थाओं में क्रमशः कमी आयी है। क्या ऐसा नहीं लगता है कि हम पश्चिमी देशों के सांस्कृतिक उपनिवेशवाद से बंध गये हैं? हमारी आज की संस्कृति क्या पश्चिम की अन्धानुकरण की संस्कृति नहीं लगती? हम अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं एवं मूल्यों को

छोड़कर आधुनिकता के दिखावे भरे छद्म प्रतिमान अपनाते जा रहे हैं। अब हमारे स्थापित सांस्कृतिक मूल्य हमें वर्तमान जीवन मूल्यों के चलते दिग्भ्रमित होने से रोक नहीं पा रहे हैं। विज्ञापन और प्रचार-प्रसार के तन्त्र धीरे-धीरे हमारे घरों में घुसकर हमारी मानसिकता बदलते जा रहे हैं। हम झूठी तुष्टि, जिसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अनेक माध्यमों से परोस रही हैं, की चकाचौंध में भ्रमित हो गये हैं तथा विकास के बड़े-बड़े लक्ष्यों से कमशः पीछे हट रहे हैं। पारिवारिक मर्यादाएँ टूट रही हैं। नैतिक मूल्य एवं मानदण्ड शिथिल हो रहे हैं। व्यक्ति केन्द्रियता बढ़ रही है तथा हमारे छुद्र स्वार्थ परमार्थ को नकार रहे हैं। भोग की आकांक्षाएँ दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं तथा ये प्रवृत्तियाँ हमें कहाँ ले जाकर छोड़ेगी, कुछ समझ में नहीं आ रहा है। उपभोक्ता संस्कृति लगभग पाँच हजार वर्षों से चली आ रही भारतीय संस्कृति की सामाजिक नींव को ही हिलाने लगी है। गाँधी जी की यह बात आज हमें बार-बार याद आती है कि भारत को अपने मूलभूत सांस्कृतिक बुनियादों तथा मूल्यों पर कायम रहकर ही बाहरी दुनियाँ के स्वस्थ सांस्कृतिक प्रभावों से अपने को मजबूत बनाना ही श्रेयस्कर होगा। परन्तु अब हम स्वयं अपनी बुनियाद को ही वैश्वीकरण के दौर में हिलाने को तैयार दिख रहे हैं।

बहुत पहले महाकवि कालिदास ने कहा था कि पुराना सब कुछ अच्छा ही नहीं होता है और न ही नया सब कुछ त्याज्य ही (पुराणमित्येव न साधु सर्वं)। श्री गिरिजाकुमार माथुर जी भी कुछ ऐसा ही भाव एक जगह व्यक्त करते हैं।

“जो कुछ पुराना है, मोहक तो लगता है।

टूटन का दर्द मगर सहना ही पड़ता है।।”

समाज प्रकृति की तरह जड़वत न होकर गत्यात्मक रहता है। पर्यावरण में परिवर्तन, जनसंख्या का घनत्व, नई-नई प्राविधिक सम्भावनाएँ और आकांक्षाएँ नये क्षितिज तैयार करते रहते हैं और इनसे जो सामाजिक संरचना बनती है वह हमारे मूल्यात्मक आधार को नयी दिशा और गति प्रदान करती है। ऐसे में परिवर्तन की चुनौतियों का सामना कर सकने में असमर्थता सामाजिक व्याधि बन जाती है। अवरोध की स्थिति उत्पन्न होने पर ऐसे समाजों और संस्कृतियों के अस्तित्व और अस्मिता को गम्भीर टोस पहुँचता है। इतिहास साक्षी है कि जो समाज और संस्कृति, पर्यावरण, जनसंख्या के घनत्व तथा नई प्रौद्योगिक के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल सका, वह या तो मिट गया या विकास की दौड़ में बहुत पीछे छूट गया। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद विज्ञान और प्रौद्योगिकी की गति बहुत तीव्र हुई है और इक्कीसवीं सदी में इसमें और तेजी आती जा रही है। फलतः वे देश अथवा राष्ट्र जो इस वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी की गति के साथ नहीं चल पा रहे हैं, वे पिछड़ रहे हैं तथा उनके समाजों तथा मूल्यगत ढाँचे में समरसता की कमी तथा अनेक विसंगतियाँ एवं विकृतियाँ उत्पन्न होती जा रही हैं। समाज वैज्ञानिक प्रायः यह बात कहा करते हैं कि सामाजिक और सांस्कृतिक कारक नियोजित

परिवर्तन की प्रक्रिया में अवरोधक सिद्ध होते हैं और सामाजिक-सांस्कृतिक संवेदनहीन आर्थिक और प्रौद्योगिक विकास सामाजिक विघटन उत्पन्न कर सांस्कृतिक मूल्यों को अस्त-व्यक्त कर देते हैं। यह स्थिति अत्यन्त पीड़ादायक होती है क्योंकि एक ओर परम्परा का मोह तो दूसरी ओर नवाचारों का आकर्षण मानव समुदायों को दो विपरीत दिशाओं की ओर खींचने लगता है।

भारत सदियों से गाँव प्रधान देश रहा है। इस देश का समाज एक स्वस्थ परम्परा पोषित मूल्याधारित समाज रहा है। इस देश के लोगों ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की विकासशील प्रवृत्ति को सदैव आदर के साथ जानने, समझने तथा अपनाने का प्रयास किया है। लेकिन इसके साथ ही सांस्कृतिक स्तर पर अपने परम्परागत मूल्यों को भी सुरक्षित तथा पोषित रखने का प्रयास किया है। परन्तु आज भारतीय समाज गहरे संक्रमण-काल से गुजर रहा है। इस पर परिवर्तन का दबाव कई तरफ से पड़ रहा है। एक ओर आधुनिकीकरण इसकी अनिवार्यता है तो दूसरी ओर परम्परा के अपने आग्रह भी है। वैश्वीकरण के चलते दुनिया के अन्य देशों से मिलने वाली आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन शैली तथा मूल्यों को भी भारतीय जीवन में लाती जा रही है। जिन्हें बहुत से भारतीय लोग आधुनिकता समझकर बिना सोचे-समझे अपनाने में गौरव समझ रहे हैं। ऐसे लोग निश्चयतः भारतीय परम्परा के मूलस्वर से या तो अपरिचित हैं अथवा भारतीय जीवन-मूल्यों से कटे हुए लोग हैं। इस अन्धानुकरण की प्रवृत्ति ने सामाजिक परिवर्तन के नाम पर हमारे समाज में एक नई चिन्ता को जन्म दिया है, और वह है अपनी पहचान और अस्मिता को खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की। आधुनिकीकरण, प्रगति और परम्परा के समन्वय के जो भी प्रयत्न हुए हैं, उनके अधिकांश परिणाम अब तक हास्यास्पद ही रहे हैं। आज न हम पारम्परिक भारतीय रह गये हैं, न सच्चे अर्थों में हम आधुनिक ही हुए हैं। परिवर्तन के नाम पर हमने भारतीयता पर छद्म भारतीयता का लबादा अवश्य ओढ़ लिया है। हमने अनेक भ्रमों को पालते हुए एक गन्तव्यहीन यात्रा को वरण किया है। हमारे सामने आज सबसे बड़ी उलझन यह खड़ी हो गई है कि परम्परागत मूल्यों के पास समाज की सभी समस्याओं को हल करने की ताकत नहीं दिखायी दे रही है और न ही आधुनिकता के कार्यक्रमों में ऐसी विशिष्ट शक्ति ही दिखती है कि वह मूल्यों की अथवा परम्परा की अवहेलना कर समाज को आगे बढ़ा सके। हम अनिर्णय के गहरे दलदल में फँस से गये हैं और किसी सार्थक विकल्प की खोज के मार्ग को अवरोधित पा रहे हैं। भारतीय संस्कृति के सामने आज संक्रमण की चुनौती खड़ी है। परन्तु ध्यातव्य है कि संक्रमण तो एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। उसके दुखद और सुखद परिणाम तो आते जाते रहते हैं। पारिस्थितिक परिवर्तन का अनिवार्य कारण बन जाता है। परिवर्तन के अनेक कारक हो सकते हैं— यथा—नई आवश्यकताएँ, सुरक्षा की पर्याप्त और विश्वसनीय व्यवस्था, अत्याधिक श्रम और एकरसता को दूर करने वाली सुविधाएँ तथा नये प्रतिष्ठापरक उपादान आदि। श्रेष्ठ चिन्तक गोविन्दचन्द्र पाण्डेय जी का यह मत प्रस्तुत विमर्श में यौक्तिक प्रतीत है कि “समाज किसी भौतिक उपादान की संरचना नहीं है। वस्तुतः कर्मपरक व्यवस्था

के अनेक आयामों और स्तरों में सबसे गहरा है— धार्मिकता का मूल्य—“इस सन्दर्भ में बदलते सामाजिक जीवन में भी भारतीय संस्कृति की धर्मप्राणता विशेष विचारणीय बिन्दु है। मानव जीवन का अन्तर्मुख ही उसका आध्यात्मिक पक्ष है, जिसमें वह नितान्त वैयक्तिक होकर आत्म—बोध अथवा परमात्मबोध का प्रयास करता है। इसके विपरीत नैतिक जीवन में परोपकार, निःस्वार्थता, कर्तव्यपरायणता आदि मूल्य आते हैं। सम्राट अशोक ने अपने अभिलेखों में जीवन की इन्हीं वृत्तियों को संयम और भावशुद्धि का नाम दिया है। प्रो. पाण्डेय जी यह भी स्पष्ट करते हैं कि “आध्यात्मिक और नैतिक जीवन तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता और सार्वभौम एवं सनातन आदर्शों के प्रति सजग हो।” आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को परम्परा के रूप में धर्म को सनातन सत्य का प्रकाश माना जा सकता है और इस रूप में संस्कृति अपने सारांश को विक्रियात्मक परिवर्तन से सदा बचाने की चेष्टा करती है।¹² हमें इस सत्य को स्वीकार करने में कोई विप्रतिपन्नता नहीं होनी चाहिए कि सांस्कृतिक परम्परा हमारी सर्जनात्मक चेतना से उद्भूत होती है। यह चेतना महापुरुषों के क्रियात्मक संकेतों तथा बौद्धिक एवं मूल्यपरक विचारणा से सृजित होती है। इसीलिए सांस्कृतिक मूल्य न तो भौतिक पदार्थ है और न ही जैविक। उसका अदृश्य प्रवाह हमारी शिक्षा परम्परा के द्वारा हमारे मानस में प्रतिष्ठित होता है। उसका सम्बन्ध सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से विगलित नहीं होता है। वस्तुतः संस्कृति और परम्परा दोनों ही मानसिक संकल्पनाएँ हैं। इनका प्रतिरूप या तो समाज अर्थात् उसके साहित्यकार, इतिहासकार, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक व्याख्याता या तो स्वयं गढ़ते हैं अथवा दूसरे के द्वारा गढ़े हुए प्रतिरूप को ग्रहण कर लेते हैं। कभी—कभी उसमें एक से अधिक प्रतिस्पर्धी प्रतिरूप एक साथ अस्तित्व में रहते हैं। इस तरह के किसी प्रतिरूप में संस्कृति के सभी तत्वों का समावेश सम्भव नहीं होता है। अस्तु, उन्हें अपने मूल्यों के संदर्भ में तात्कालिकता की निश्चित योजना में संजोने की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ हमारे आदर्श ग्रन्थ रामायण भी हैं और महाभारत भी। हमें अपने वीरगाथा काल पर भी गर्व है और भक्तिकाल पर भी। वस्तुतः युद्ध और शान्ति दोनों ही हमारी परम्परा के अंग हैं। इनका चुनाव समय सापेक्ष होता है।

संस्कृति को देखने—समझने के मुख्यतः दो दृष्टिकोण अपनाये गये हैं। पहला वृक्ष रूप और दूसरा नदी रूप। पहले दृष्टिकोण में वृक्ष की तरह संस्कृति की समान जड़े, एक तना और अनेक शाखाओं का परिकल्पन है जिसमें वैदिक पौराणिक एवं तांत्रिक धर्म और विचार जैसे मूल के साथ बौद्ध, जैन, सिक्ख, चार्वाक लोकायत आदि उसी वृक्ष—मूल से संयुक्त शाखायें मानी जा सकती हैं। परन्तु ध्यातव्य है कि लोकायत, बौद्ध एवं जैन आदि शक्तिशाली प्रतिसंस्कृतियाँ थी, जिन्होंने मूल हिन्दू विचारधारा को न केवल मोड़ देने का प्रयास किया था, बल्कि उसके लक्ष्यों और साधनों की एक नयी व्याख्या भी प्रस्तुत किया था। हमारी संस्कृति में ऐसी अनेक चिन्तन धारायें विभिन्न कालों में आती रहीं तथा समय के अन्तराल में वे हमारी परम्परा का अंग बनती गयी। परन्तु आज हमारे सामने परिवर्तन की जो चुनौती खड़ी हुई है, वह इन सबसे सर्वथा पृथक् और विकराल हैं। हमारे सामने

आधुनिकीकरण की चुनौती है। हमने आधुनिकता के आधार मूल्य जैसे तार्किकता, विवेकशीलता, सामाजिक गतिशीलता, परानुभूति, सक्रिय सहभागिता आदि नवीनताओं को तो गम्भीरता के साथ नहीं अपनाया। हम केवल उसके बाहरी एवं उपभोगवादी चकाचौंध एवं लक्षणों में उलझकर रह गये हैं। परिणामस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन में व्यक्ति केन्द्रियता बढ़ी है तथा मानवीय सामाजिक सरोकारों में कमी आयी है। धर्मनिरपेक्षता आज के परिवर्तित सामाजिक संदर्भ में धर्म विमुखता बन गयी है। धर्म के मूलाधार विस्मृत हो रहे हैं तथा तांत्रिक और चमत्कारिक बाबा लोग भोग परस्त तथा फल-फूल रहे हैं। आर्थिक उदारता, मुक्त बाजार-व्यवस्था, वैश्वीकरण सम्पूर्ण भारतीय जीवन मूल्यों में एक अप-संस्कृति फैला रहे हैं और हम इस स्थिति को एक असहाय दर्शक बनकर देखने को मजबूर हैं। इससे भी बड़ी चुनौती आज दिख रही है धर्म के दुरुपयोग की। होना तो चाहिए था नवजागरण के प्रति प्रतिबद्ध प्रयत्न का, लेकिन हो रहा है अल्पकालिक राजनीतिक लाभ के लिए धर्म के दुरुपयोग का। धर्म के अन्तर्निहित मूल्यों यथा-परोपकार, सेवा, करुणा तथा समता आदि उदात्त भावनाएँ तो आज गौण होती जा रही है तथा इनके स्थान पर विवेकहीनता, धर्मान्धता तथा मूल्यहीनता प्रधानता को प्राप्त हो रही है। इसी तरह आज हमारे सामने एक और महत्वपूर्ण चुनौती सामने आने लगी है। अविवेकी तथा तात्कालिक लाभ की गन्दी राजनीति की। एक ओर जहाँ विश्व के सामने पर्यावरण, आटमिक युद्ध, ऊर्जा की कमी, भूख, आवासहीनता तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि विकट प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़े जा रहे हैं, वहीं हमारी राजनीति में कुर्सी पाने तथा सत्ता प्राप्ति की धिनौनी चालें आम बात हो चुकी है। बदलते जीवन मूल्य के इस दौर में किसी भी सत्ताधारी तथा राजनीतिज्ञ को मानव भविष्य की चिन्ता नहीं है। समाज में स्थापित एवं लोक मंगलकारी मूल्य ऐसे में अपनी भूमि छोड़ते दिख रहे हैं। समय आ गया है इन पर गम्भीरता से विचार करने के साथ हल ढूँढ़ने का।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. द्रष्टव्य, प्रो० गोविन्द चन्द्र : भारतीय समाज, तात्त्विक और ऐतिहासिक विवेचन, प्रथम संस्करण, 1994, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ० 87।
2. द्रष्टव्य, वही, पृ० 87

प्रो० हरि नारायण दुबे

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

मो० : 9936917424

भर्तृहरि के शतकत्रय में पुरुषार्थचतुष्टय

प्रो० योगेश चन्द्र दुबे

अध्यक्ष संस्कृत विभाग

ज०रा०वि०वि० चित्रकूट

मो० : 9452032221



सभ्यता के प्रारम्भिक काल में जब मानव आदिम एवं खानाबदोश जीवन जीता था उस समय न तो कोई सामाजिक व्यवस्था बंधन या नियम था और न ही वैयक्तिक स्तर पर किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध, प्रतिबन्ध या नियम ही था। सभी लोग यत्र-तत्र मनमाने आचरण एवं व्यवहार के साथ विचरण करते थे। हमारे त्रिकालदर्शी महर्षियों ने इस व्यवस्था पर गहन-चिन्तन एवं मनन के पश्चात् समष्टि एवं व्यष्टि दोनों स्तरों पर कुछ व्यवस्थात्मक निर्मित की, जो सामाजिक, सामूहिक एवं समष्टि के स्तर पर वर्णव्यवस्था के रूप में प्रदर्शित की गयी तथा व्यष्टि रूप में मानव जीवन को संयमित एवं सुव्यवस्थित करने के लिए संस्कार, आश्रम एवं पुरुषार्थ का प्रतिपादन किया गया।

मनुष्य का सर्वांगीण विकास पुरुषार्थ के माध्यम से होता है। भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से समुन्नत करने के निमित्त पुरुषार्थ के नाम से अपने दार्शनिक विचारों की नियोजना की थी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मनुष्य के चार पुरुषार्थ माने गये जिसे शास्त्रकारों ने चतुर्वर्ग या पुरुषार्थचतुष्टय की संज्ञा दी। इन्हीं पुरुषार्थों से ही मनुष्य बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष करता है। वस्तुतः मानव जीवन में भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख दोनों का महत्व है तथा दोनों का समन्वित रूप ही जीवन को उन्नत करता है। जीवन की सार्थकता भी इसी दिशा में है कि दोनों का समन्वित और संतुलित रूप ग्रहण किया जाय। अतः भारतीय जीवन दर्शन इन दोनों प्रवृत्तियों का संतुलित सम्मिलित और समन्वित स्वरूप है, जिसे पुरुषार्थ कहते हैं। भौतिक अथवा लौकिक सुख के अन्तर्गत अर्थ और काम हैं तथा आध्यात्मिक और पारलौकिक सुख के अन्तर्गत धर्म और मोक्ष। इस प्रकार पुरुषार्थ में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तत्त्व निहित हैं। इसके अन्तर्गत मनुष्य लौकिक उपयोग के साथ धर्म का अनुसरण करते हुए ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष की प्राप्ति करता है।

स्पष्ट है कि मानव जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक एवं नैतिक दृष्टि से समुन्नत बनाने के निमित्त ही

पुरुषार्थ चतुष्टम की संकल्पना एवं सुव्यवस्था की गयी । संभवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भर्तृहरि ने नीतिशतक, वैराग्यशतक एवं श्रृंगारशतक की रचना की। स्थूल रूप में देखा जाय तो वैराग्यशतक—आध्यात्मिक, नीतिशतक— नैतिक एवं श्रृंगारशतक—भौतिक पक्षों को पूर्णरूपेण समेटते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय को सर्वांगीण रूप से अभिव्यक्त करने वाली भर्तृहरि की कृतियाँ हैं। किम्बहुना मानव जीवन के महत्वपूर्ण आध्यात्मिक एवं भौतिक पक्षों को उजागर करने के निमित्त से ही तथा पुरुषार्थ चतुष्टय की परिकल्पना को चरितार्थ करने के लिए ही भर्तृहरि ने इन तीनों शतकों की रचना की है। वस्तुतः धर्म, अर्थ काम और मोक्ष— इनसे सम्बन्धित दृष्टान्तों के आधार ग्रन्थ हैं। भर्तृहरि के शतकत्रय, यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

इस स्थल पर एक विचारणीय तथ्य यह भी उभरकर सामने आता है कि भर्तृहरि कोई साधारण रचनाकार नहीं है वे तो वाक्यपदीय जैसे व्याकरण ग्रन्थ की रचना करके जहाँ व्याकरणशास्त्र में एक मानव स्थापित करते हैं वहीं उन्होंने नीतिशतक, वैराग्यशतक एवं श्रृंगारशतक जैसे काव्यग्रन्थों की रचना करके साहित्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के मानकों को भी सजोने एवं स्थापित करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। इन तीनों काव्यों की रचना करने का प्रयोजन भर्तृहरि का कुछ और नहीं था अपितु काव्य प्रयोजन ही था जिसे कि भामह एवं कुन्तक आदि आचार्यों ने अपने इन लक्षणग्रन्थों में स्वीकार किया है। भामह कहते हैं उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करना है¹—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥

इसी प्रकार आचार्य कुन्तक भी वक्रोक्तिजीवित में कहते हैं कि काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है²—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारकमोदितः।

काव्यबन्धेऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥

ऐसा प्रतीत होता है कि व्याकरणशास्त्र के आचार्य भर्तृहरि जी काव्यशास्त्र के उक्त प्रयोजनों को दृष्टिगत रखते हुए ही वैराग्यशतक, नीतिशतक और श्रृंगारशतक की रचना की जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि चारों, पुरुषार्थों का प्रयोजन उन्हें सर्वाधिक अभीष्ट है। सम्प्रति इन चारों पुरुषार्थों का भर्तृहरि के शतकत्रय में गवेशणात्मक अध्ययन किया जाता है। चारों पुरुषार्थों में धर्म की गणना सर्वप्रथम की गयी है तथा इसे अन्यो की अपेक्षा सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान भी दिया गया है, अतएव सर्वप्रथम इसी की व्याख्या की जा रही है।

धर्म

वस्तुतः धर्म व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की एक संहिता है जो उसके कार्यों को देशकाल और

परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थित, निर्मित और नियंत्रित करता है तथा उसे स्वस्थ और उज्ज्वल जीवन जीने के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त कराता है। भारतीय वाङ्मय में धर्म सम्बन्धी अवधारणा, नियम और व्यवस्था का अत्यन्त विशद वर्णन हुआ है। **आचारलक्षणोधर्मः** अथवा सदाचार को धर्म का लक्षण जाना गया है तथा आचार से ही धर्म को फलीभूत होने वाला कहा गया है। **आचारफलतेधर्मः** आचार और धर्म को एक दूसरे का पूरक मानकर आचार को ही परमधर्म स्वीकार किया गया है **आचारःपरमोधर्मः**। धर्मशब्द धृ धातु से बना है। जिसका अर्थ धारण करने से है— **धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः**। धर्म शब्द की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि इस चलायमान संसार में धर्म को छोड़कर कुछ भी स्थिर एवं निश्चल नहीं है⁷— **चलाचलेति संसारे धर्म एको हि निश्चलः**। इसी प्रकार धर्म शब्द की अनेकों व्याख्याओं एवं लक्षणों के साथ धर्म के आधारस्त्रोत, इसके विभेद—सामान्य धर्म, विशिष्टधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म कुलधर्म, युगधर्म, राजधर्म, स्वधर्म एवं सनातन धर्म आदि धर्म की बहुविध विवेचनाओं से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। प्रकृत स्थल पर शतकत्रय में धर्म की व्याख्या हेतु मनु द्वारा प्रतिपादित दशविध धर्मलक्षण को ग्रहण किया जाता है⁸—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम्॥

1. **धृति**—धृति का तात्पर्य धैर्य से है। धैर्यवान् पुरुष अपने निर्धारित प्रयोजन की सिद्धि के बिना विश्राम नहीं लेते हैं। भर्तृहरि नीतिशतक में इसी बात को स्पष्ट करते हैं—⁹

रत्नैर्महाहैस्तुतुषुर्न देवाः

न भेजिरे भीमविशेषे भीतिम्।

सुधा विना न प्रययुर्विशामं

न निश्चितार्थद्विरिमान्ति धीराः॥

देवता लोग बहुमूल्य रत्नों से सन्तुष्ट नहीं हुए, भयंकर विश से डरे नहीं, अमृत के बिना विश्राम नहीं लिए। धीर पुरुष निर्धारित प्रयोजन से विरत नहीं होते हैं। इसी प्रकार पुनः धृति(धैर्य) का परिचय देते हुए भर्तृहरि लिखते हैं— नीति में कुशल पुरुष चाहे निन्दा करें या स्तुति करें, सत्पत्ति पास आये अथवा चाहे जहाँ चाहे चली जाय, मृत्यु आज हो जाये या युगों बाद किन्तु धीर पुरुष न्यायोचित मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते—¹⁰

निन्दन्तु नीतिनिपुणां यदि वा स्तुवन्तु,

लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,

न्याय्यातः पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

दुर्दशा में पड़े हुए भी धैर्यशील मनुष्य का धैर्यगुण निश्चय ही मिटाया नहीं जा सकता है—¹¹

**कदर्थितस्यापिहि धैर्यवृत्ते
न शक्यते धैर्यगुणः प्रमूर्द्धम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वहने
नर्धः शिख याहि कदाचिदेव।।**

2. **क्षमा**—भर्तृहरि कहते हैं—¹² **क्षान्तिश्चेत कवचेन किं** मनुष्यों में यदि क्षमा है तो कवच का क्या प्रयोजन है? विपदि **धैर्यमथाम्युदये क्षमा** विपत्ति में धैर्य और अभ्युदय में क्षमा की आवश्यकता होती है।¹³ **क्षमागुरुजने पूज्यजनों** में क्षमा का भाव होना चाहिये। **तृष्णां छिन्धि भज क्षमां** तृष्णा छोड़ो क्षमा को धारण करो।¹⁴ समर्थ का आभुषण क्षमा है— **अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रमवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता**¹⁵। इसी प्रकार क्षमाशीलता के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए वैराग्यशतक में कहते हैं¹⁶— **क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः** अर्थात् सहन किया किन्तु क्षमापूर्वक नहीं अर्थात् सहनशीलता तभी श्लाघ्य है जब वह क्षमापूर्वक की जाय।

3. **दम**—दम का तात्पर्य है मन के विषयों की आसक्ति का दमन एवं उसको शान्त करना जैसा कि वैराग्यशतक में भर्तृहरि कहते हैं कि सैकड़ों टुकड़ों से जर्जरित लेंगोटी और ऐसी ही कथरी चिन्ता शून्य और सुलभ भिक्षा का भोजन, श्मशान अथवा वन का शयन, मित्र और रिपु में समता और निर्जन स्थान में परमात्मा के निर्मल ध्यान में प्रभाव से मदमोहादि के विनष्ट होने से प्रसन्न योगिराज निस्सन्देह सुखपूर्वक रहता है¹⁷— मदमोहादि का विनष्ट होना, भोगों के प्रति आसक्ति का नष्ट होना आदि मन की सभी क्रियाओं का दमन, क्रिया के बाद शान्त भाव आना ही दम है। वैराग्यशतक के अन्तर्गत इस प्रकार से दम के अनेकों दृष्टान्त उपलब्ध हैं यथा—चित्त या मन में दमन या निग्रह में शक्ति या सामर्थ्य की आवश्यकता होती है¹⁸— **शक्तिरात्मदमने।।**

4. **अस्तेय**—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। किसी की कोई चीज बिना अनुमति ले लेना ही अस्तेय है। लोभ के कारण ही व्यक्ति परायी वस्तु का अपहरण करता है। इसलिए लोभ को ही अस्तेय का कारण माना जाता है। अतः अलोभी व्यक्ति ही अस्तेय का आचरण कर सकता है। स्फुट रूप में अस्तेय के उदाहरण शतकत्रय में उपलब्धता नहीं है।

5. **शौच**—शौच पवित्रता है। यह दो प्रकार का होता है— बाह्य और आन्तरिक। शरीर को जल आदि से शुद्ध करना बाह्य शौच है। मन के मल को दूर करना आन्तरिक शौच है। दोनों प्रकार में शौच की आवश्यकता है किन्तु आन्तरिक शौच, बाह्य शौच की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। मन को दूषित करने में अर्थ का बड़ा योग है। अर्थ के कारण ही लोभ और मोहादि विकार उत्पन्न होते हैं। अस्तु आर्थिक शुचिता मन में एवं जीवन में अवश्य होनी चाहिये। मन की पवित्रता से सम्पूर्ण जीवन में पवित्रता आ जाती है। भर्तृहरि कहते हैं कि यदि मन की

पवित्रता हो तो तीर्थ का क्या प्रयोजन¹⁹—**शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्** यही नहीं इससे पूर्व श्लोक में कवि कहता है शुचिता में कपट या छल नहीं होना चाहिये। पवित्रता कपट रहित हो तो श्रेष्ठ है²⁰ **शुचौकैतवं।**

6. इन्द्रिय निग्रह—इन्द्रियाँ एकादश हैं। इनका नियंत्रण ही इन्द्रिय निग्रह है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन। इसमें मन का दमन दम कहलाता है तथा अन्य सभी इन्द्रियों का नियंत्रण ही इन्द्रिय निग्रह। इन्द्रियों को स्वतंत्र करने से दुःख और इन्हें नियंत्रित करने से सुख प्राप्त होता है किन्तु इन्द्रियों को नियंत्रित करने वाला व्यक्ति सामान्य नहीं होता वह शाक्तिशाली या वीर व्यक्ति होता है। भर्तृहरि कहते हैं²¹— **कः शूरोविजितेन्द्रियः।** इसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों से दूर हटाकर सुखपूर्वक जीवन जीने के लिए कवि निर्देश करता है।²² हे मन! इस कष्ट देने वाले विषय भोगरूप वन को शीघ्र छोड़ दे, समस्त क्लेशों को शमन करने में समर्थ कल्याणकारी शान्ति भाव को क्षण मात्र के लिए प्राप्त कर, जल के बुबुले के समान अपनी चंचल बुद्धि को छोड़ और नाश होने वाले संसार से फिर अनुराग मत कर, अब तूँ प्रसन्न हो। इसी प्रकार भर्तृहरि आगे कहते हैं कि हे भक्तों मैं कब एकाकी(अकेला) निःस्पृहः(सांसारिक भोग के लिए वान्छा शून्य) शान्त (इन्द्रियों को वश में रखने वाला) हाथ में कमण्डल दिशाओं को वस्त्र मानने वाला तथा कर्मों (गृहस्थी के कर्तव्यों) को नाश करने में समर्थ होऊंगा।²³

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।

कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः।।

धीः—धीः का अर्थ तत्त्वज्ञान से है। तत्त्वद्रष्टा ही कर्तव्य और अकर्तव्य का निश्चय कर सकता है परन्तु इस निश्चय के लिए विवेक की आवश्यकता है। विवेक के कारण ही मनुष्य दुष्कर्म का त्याग और सत्कर्म का ग्रहण करता है। विवेक के कारण ही हम शास्त्रविहित कर्म करते हैं और शास्त्र निषिद्ध कर्म का त्याग करते हैं। इसलिए व्यक्ति के जीवन में विवेक की बड़ी आवश्यकता है। विवेक से भ्रष्ट लोगों को सैकड़ों गड्ढों में गिरना पड़ता है। भर्तृहरि कहते हैं—²⁴

शिरः शार्व स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं

महीध्रादुतुंगादवनिमवनेश्चापिजलधिम्।

अधोऽधो गंगेयं पदमुपगता स्तोकमथवा

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।।

पहले यह गंगा स्वर्ग से शिवजी के मस्तक को, शिवजी के मस्तक से पर्वत को, अत्यधिक ऊँचे पर्वत से पृथ्वी को और पृथ्वी से समुद्र को इस प्रकार नीचे-नीचे छोटे पद को प्राप्त हुई ठीक भी है विवेक से गिरे लोग सैकड़ों गड्ढे में गिरते हैं। इसीलिए धीः की महत्ता बताते हुए भर्तृहरि विवेकी विद्वान को सावधान बुद्धि से विचार करके कार्य करने के लिए निर्देश करते हैं²⁵—

कर्मायन्ते फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।

तथाऽपि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥

मनुष्यों के सुख-दुःख आदि कर्म के अधीन हैं। बुद्धि कर्म के अनुरूप होती है फिर भी बुद्धिमान को अच्छी तरह से विचार करके कर्म करने वाला होना चाहिए।

विद्या

विद्या का अर्थ आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान अनात्मज्ञान से भिन्न है। अनात्मज्ञान सांसारिक ज्ञान है। इससे व्यक्ति केवल व्यवहार कुशल हो सकता है परन्तु आत्मज्ञान मोक्ष का साधन है। आत्मा ही एकमात्र तत्त्व है इसका यथार्थ ज्ञान पाने वाला व्यक्ति अमर हो जाता है। अस्तु विद्या की जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिए भर्तृहरि कहते हैं²⁶ जिसके पास विद्या नहीं है वह मृत्युलोक में भूतल पर मानवस्वरूप पशु है जो मनुष्य के रूप में विचरण कर रहा है— **येषां न विद्या.....**। विद्या की महिमा बताते हुए विद्याविहीन मनुष्य को पशु के रूप में बताते हैं²⁷—

विद्या नाम नरस्य रूपमाधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं

विद्या भोगकरी यशं सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः ।

विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परादेवता

विद्या राजसु पूज्यते न तु धनं विद्याविहीनः पशुः ॥

कवि कहता है कि यदि किसी के पास अनिन्ध विद्या है तो धन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि विद्या ही सफल ऐश्वर्य की जननी है²⁸— **किमु धनैर्विद्यानवधा यदि**। यदि अच्छी विद्या है तो धन का क्या प्रयोजन है²⁹— **सद्विद्या यदि कि धनः.....**। 103 वें श्लोक में पुनः कहते हैं धन क्या है? विद्या। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए तथा विद्या की महत्ता दर्शाते हुए कहते हैं³⁰— जो मनुष्य **विद्यायां व्यसनं** विद्याव्यसनी है उन्हें नमस्कार करता हूँ। भर्तृहरि ने नीतिशतक के 15-20 श्लोकों में विद्या के महत्त्व का भलीभाँति प्रतिपादन किया है किन्तु विद्या से अलंकृत दुर्जन व्यक्ति सर्वथा त्याज्य है—³¹

दुर्जनं परिहर्तवयो विद्यालंकृतोऽपि सन् ।

मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥

सत्य

सत्य का आचरण धर्म का मूल है। उपनिषदों में सत्य की महिमा का वर्णन मुक्त स्वर से किया गया है। महात्मा मनु के अनुसार तो सत्य ही सनातन धर्म है। इसी प्रकार भर्तृहरि भी अपने शतकों में सत्य की महिमा का बखान करते हुए कहते हैं³²— व्यक्ति को सदैव सच बोलना चाहिए क्योंकि यह शास्त्रविहित कल्याण का मार्ग है। इसके लिए सज्जनों की संगति करनी चाहिए क्योंकि सज्जनों की संगति वाणी में सत्यता को पल्लवित करती है³³—

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं ।

सत्संगति कथं किं न करोति पुंसाम् ।।

पुनः कहते हैं कि व्यक्ति के पास यदि सत्य है तो किसी प्रकार की तपस्या का कोई अर्थ नहीं है³⁴— **सत्यं चेन्तपसांचकिं**। मुख में सत्यवाणी, ऐश्वर्य के बिना भी स्वभाव से बड़े पुरुषों का आभूषण है³⁵— **मुखे सत्या वाणी**।**विनाऽप्यैश्वर्येण प्रकृति महतां मण्डनमिदम्**। सज्जनों में आचरण का निर्देश करते हुए भर्तृहरि कहते हैं³⁶— **सत्यं ब्रूह्यनुयाहि— सतां चेष्टितम्**। सज्जन लोग सदा सच बोलने का ही आचरण करते हैं। अन्त में यहाँ तक कहते हैं कि जिस व्यक्ति की आसक्ति सत्य के परिपालन में रहती है, वह तेजस्वी व्यक्ति होता है। वह कभी अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता है, भले ही उसे अपने प्राणों को छोड़ना पड़े—³⁷

तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति ।

सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ।।

अक्रोध

क्रोध का कारण होने पर भी मन में क्रोध का न आना ही अक्रोध है। इस प्रकार अक्रोध का पालन वही कर सकता है जो इन्द्रिय संयम करता है तथा मन का दमन करता है। साधारण व्यक्ति क्रोध का कारण उत्पन्न होने पर क्रुद्ध हो जाते हैं तथा प्रसंशा करने पर प्रसन्न हो जाते हैं। महात्मा जितेन्द्रिय होते हैं, वे मन की वृत्तियों — काम, क्रोध, लोभ, मोह पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। भर्तृहरि कहते हैं, वे व्यक्ति धैर्य शाली हैं जिन्हें क्रोध रूपी आग की आंच नहीं जला पाती अर्थात् वे अक्रोधी बने रहते हैं³⁸— **चिन्तं न निर्दहति कोपकृशान्त तापः... स धीरः**। व्यक्ति के सदाचार एवं आभूषण की चर्चा करते हुए कहते हैं³⁹— **अक्रोधस्तपसः परं भूषणम्**। तपस्या का आभूषण है— क्रोध का न होना या अक्रोध। अक्रोध की स्थिति आने पर व्यक्ति में वैराग्य भाव उत्पन्न हो जाता है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह से परे वह ईश्वरार्पण बुद्धि वाला हो जाता है⁴⁰—

भिक्षाहारमदन्यमप्रतिहतं भीतिच्छदं सर्वदा ।

दुर्मात्सर्यमदाभिमानमथनं दुःखौघविध्वंसनम् ।

सर्वत्रान्वहमप्रयत्नसुलभं साधुप्रियं पावनम्

शम्भोः सतमवार्यमक्षयनिधिं शसन्ति योगीश्वराः ।।

अर्थ

पुरुषार्थ चतुष्टय में दूसरा स्थान अर्थ का है। अर्थ का सम्बन्ध धन सम्पत्ति से होते हुए भौतिक उपकरण और सुख से भी है। वस्तुतः अर्थ का अभिप्राय उन सभी उपकरणों अथवा भौतिक साधनों से है जो व्यक्ति को समस्त सांसारिक सुख उपलब्ध कराते हैं तथा तत्सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं और साधनों की पूर्ति कराते हैं।

व्यावहारिक रूप से अगर देखा जाय तो मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताएं और उसकी भौतिक इच्छाएं अर्थ के माध्यम से ही पूरी होती हैं। इसीलिए तो भर्तृहरि अर्थ की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि— जाति रसातल को चली जाय, गुणों का समूह उस रसातल से भी नीचे चला जाय, सदाचार पर्वत के किनारे पर गिर जाय, वंश आग से जल जाय, शत्रुस्वरूप पराक्रम पर वज्र गिर जाय, किन्तु धन केवल हमारा बचा रहा जाय, एकमात्र जिसके बिना ये सारे गुण तिनके के टुकड़े के समान हो जाते हैं⁴¹—

**जातिर्जातु रसातलं गुणगणैस्तत्राप्यधौ गम्यतां
शीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वहिना ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोस्तु नः केवलं
येनैकेन बिना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ।**

यह अर्थ या धन व्यक्ति के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस धन की गर्मी बहुत विचित्र होती है। व्यक्ति के पास सब कुछ होते हुए भी धन का अभाव हो जाने पर अथवा धन की गर्मी न रहने पर वही व्यक्ति क्षण में दूसरा प्रतीत होने लगता है यह अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है⁴²—

**अर्थाष्मणा विरहितः पुरुषः क्षणेन
सोऽप्यन्य एव भवतीति विचित्रमेतत् ।**

इस धन में ही संसार के सारे गुण निहित हैं जिसके पास धन है उसके पास सब कुछ है जिसके पास धन नहीं है उसके पास कुछ भी नहीं है भर्तृहरि कहते हैं— जिसके पास धन है वह मनुष्य श्रेष्ठकुल में उत्पन्न है, वह पण्डित है, वह वेदशास्त्र में पारंगत है, गुणों को जानने वाला है, वह ही बोलने वाला है और वह ही देखने योग्य है। इस प्रकार सारे गुण स्वर्ण या धन का ही आश्रय लेते हैं⁴³—

**यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ।।**

अर्थ या धन के विनाश की भी अत्यन्त विचित्र स्थिति है। इसके कारणों को दर्शाते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि— यदि धन का अतिव्यव होता है या अतिदान होता है या असावधानी के कारण दुर्व्यसनों में खर्च होता है तो वह नष्ट हो जाता है⁴⁴— **त्यागप्रमादाद्धनम विनश्यति**। धन की तीन अवस्था में या गतियां होती हैं। जो न तो धन का दान करता है, न भोग करता है उसकी तीसरी गति होती है अर्थात् वह धन विनाश को प्राप्त होता है⁴⁵—

**दानं भोगो नाशस्तिप्तो गतयो भवन्ति विन्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।।**

याचको में धन का वितरण करने से क्षीण सम्पत्ति वाला मनुष्य कृशता से शोभायमान होता है⁴⁶— **तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चर्षिषु नराः।** धन की अवस्था के अनुसार वस्तुओं का मूल्य घटता बढ़ता रहता है। यह पदार्थों में अनियतरूप से छोटा बड़ापन होने के कारण धनियों की दशा पदार्थों को छोटा और बड़ा बनाती हैं⁴⁷— **गुरुलघुतयार्थेषु धनिनाभमवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च।** धन की उपलब्धि में भाग्य का विधान सर्वोपरि है। जिसके भाग्य में जितना धन विधाता द्वारा सुनिश्चित किया गया है वह मरूस्थल में हो या सुमेरुपर्वत पर मिलकर रहेगा⁴⁸—

यद्वात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोत्रं महद् वा धनं।

तत् प्राप्नोति मरूस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततौ नाधिकम्॥

इसी प्रकार धन की विविध स्थितियों, गतियों एवं नश्वरता आदि का निदर्शन वैराग्यशतक में पदे-पदे होता है। संसार की समस्त संपदा, वैभव एवं सुख सुविधाओं का परित्याग कर वैराग्य भाव का संदेश वैराग्यशतक के प्रायः सभी श्लोकों में दृष्टिगोचर होता है— इच्छानुसार समस्त मनोरथों को देने वाली लक्ष्मी भी यदि प्राप्त हो जाय तो उससे क्या? अपने प्रेमी जन को धन आदि से सम्मानित किया तो उससे क्या? अर्थात् इससे वैराग्य यदि न हुआ तो यह सब व्यर्थ है⁴⁹—

प्राप्तः श्रियः सकलकामदुग्धास्ततः किं

सम्मानितः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं।

धन प्राप्ति के लिए व्यक्ति क्या- क्या नहीं करता है, क्योंकि थोड़े से धन के लोभ में वेश्यायें जन्म से अंधे, कुरूप, वृद्धावस्था से शिथिल शरीर वाले, गंवार, नीच जाति वाले और गलित कुष्ठ वाले पुरुष को भी अपने मनोरम शरीर को समर्पित कर देती है⁵⁰—

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलांगाय च

ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च।

यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया

पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येतकः॥७७॥

काम

काम मनुष्य का तीसरा पुरुषार्थ है जिसका उसके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। काम भावना और इन्द्रिय सुख काम के प्रधान लक्षण है। व्यक्ति की समस्त कामनायें, वासनाजन्य प्रवृत्तियाँ तथा आसक्तिमूलक वृत्तियाँ काम के अन्तर्गत आती हैं। अतः काम मनुष्य जीवन की सहज प्रवृत्ति है जो उसके इन्द्रिय सुख से सम्बन्ध है। कामना और वासना में दोनों प्रवृत्तियाँ मनुष्य की सहज और स्वाभाविक स्थितियाँ हैं जिनमें क्रमशः

स्नेह, प्रेम, वात्सल्य, अनुराग, सौन्दर्यप्रियता, आकर्षण इन्द्रिय सुख तथा यौन सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति है। अगर देखा जाय तो सन्तान प्राप्ति, परिवार और वंश की निरन्तरता तथा पितृऋण से मुक्ति काम के कारण ही हैं। मन और मस्तिष्क की इच्छायें और उनकी तुष्टि कामजन्य ही होती हैं। भर्तृहरि ने संभवतः काम पुरुषार्थ की इसी महत्ता को दृष्टिगत रखते हुए स्वतंत्र रूप से श्रृंगारशतक की ही रचना कर डाली जिसमें काम पुरुषार्थ ही नहीं सम्पूर्ण कामशास्त्र के सभी अंगों एवं उपांगों का सजीव एवं सचित्र वर्णन किया है। काम पुरुषार्थ की परिभाषा बताते हुए ही भर्तृहरि कहते हैं कि— कामजन्य आनन्द से जिनकी आँख कुछ बन्द हो रही हैं ऐसे तरुण और तरुणियों के अनुभव में आने वाला रति का आस्वाद ही यथार्थ में काम पुरुषार्थ का स्वरूप है⁵¹—

आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनुसंविदं कुरुते ।

मिथुनैमिथोऽवधरितमवितमिदमेवकामनिर्वहणम् ॥

स्त्रियाँ अपनी मन्द मुस्कान से, काम के विकार को प्रकट करने वाले अपने भाव से, लज्जा से, लोकभय से, मुँह फेर लेने से, आधे कटाक्ष(कनखी) द्वारा देखने से, मधुर भाषण से, ईर्ष्या, कलह और कामकला इत्यादि समस्त भावों से पुरुष की बन्धन स्वरूप होती हैं⁵²—

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया

पराङ्मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षणैः ।

वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया

समस्तभावैः खलुबन्धुनं स्त्रियः ॥

इसमें कोई संशय नहीं कि वे कवि श्रेष्ठ उलटी बुद्धि के हैं जो लोक प्रसिद्ध सुन्दरियों को अबला कहा करते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी चंचल पुतलियों वाली आँखों की मार से इन्द्रादिकों को भी जीत लिया फिर भला वे अबला कैसे कही जा सकती हैं।⁵³ यह बिलकुल सत्य है कि भगवान् कामदेव सुन्दर भौहों वाली इन्हीं तरुणियों का आज्ञापालक दास है क्योंकि ये जिसकी ओर आँखें फेरती हैं कामदेव भी उसी ओर अपना व्यापार शुरू कर देता है।⁵⁴ श्रृंगारशतक के प्रथम श्लोक से लेकर अंतिम श्लोक तक कामक्रीड़ा, कामकला एवं कामशास्त्र के ऐसे-ऐसे और इतने श्लोक हैं जिन सबका उल्लेख करने का न ही औचित्य है और न ही अवसर। तथापि कामुकता की सीमा जीवों में देखते ही बनती है— दुर्बल, काना, लँगड़ा, कनकटा, पूँछकटा, फोड़ों से भरा, पीब भरा, सैकड़ों कीड़ों से व्याप्त, भूख से व्याकुल, बूढ़ा मिट्टी के घड़े में फँसे हुए गर्दन वाला भी कुत्ता, कुतिया के पीछे-पीछे लगा ही रहता है। ठीक ही है, कामदेव मरे को भी मारता है⁵⁵—

कृशः काणः खंजः श्रवणरहितः पुच्छविकलो,

व्रणी पूयविलन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः ।

**क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालर्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः।।**

इस काम विकार से कोई भी आज तक बच नहीं सका। जब वायु, जल और पत्तों को खाने वाले विश्वमित्र और पाराशर प्रभर्षति महर्षि भी स्त्रियों के मुखकमल को देखते ही मोहित हो गये, इन्द्रियों का निग्रह न कर सके तो दूध, दही, घी से युक्त अन्न खाने वाले मनुष्यों को यदि इन्द्रिय निग्रह हो जाये, तब समझने में कोई आश्चर्य नहीं है कि विन्ध्य पर्वत समुद्र पर तैर रहा है।⁵⁶ इसी प्रकार जहाँ शृंगार रूपी वृक्षों को सींचने वाला, काम के लिए रस को बहाने वाला, कामदेव का प्रिय बन्धु, चातुर्यरूपी मोतियों का समुद्र, कामिनियों के नेत्ररूपी चकोरों, का चन्द्रमा, सौन्दर्य लक्ष्मीका खजाना आदि विषय सुलभ है वहाँ नौजवानी को प्राप्त होने पर जिसको काम विकार नहीं होता वह पुरुष धन्य है⁵⁷—**धन्यः कोऽपिनविक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने।।** पुरुषों में कामवासना की सीमा न बाँधकर तथा स्त्रियों में स्तन लटकने तक उनके जीवन अथवा रति की मर्यादा निश्चित न करके ब्रह्मा ने अनुचित किया जिससे वृद्धावस्था में भी काम विकार उत्पन्न होते हैं और स्तन लटक जाने पर भी रति की इच्छा हुआ करती है⁵⁸—

**इदमनुचितमकमश्च पुंसां
यदिह जरास्वपि मान्यथा विकाराः।
तदपि च न कृतं नितम्बिनीनां,
स्तन पतनावधि जीवितं रतं वा।।**

मोक्ष

मनुष्य के पुरुषार्थ की अन्तिम और चरम परिणति मोक्ष है। अपने जीवन के समस्त कार्य सात्विकता और सफलतापूर्वक करने के बाद मनुष्य वृद्धावस्था में इस परम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति में संलग्न होता है। जन्म और पुनर्जन्म के बन्धन से छुटकारा तथा इस संसार के आवागमन से मुक्ति ही मोक्ष है। मोक्ष आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम और उच्चतम आदर्श माना गया है। वस्तुतः धर्मपूर्वक अर्थ और काम का निष्पादन करते हुए कर्म ज्ञान या भक्ति के माध्यम से ब्रह्म साक्षात्कार हेतु तत्पर व्यक्ति आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है। भर्तृहरि ने मोक्ष की दिशा में प्रवृत्त होने के लिए तथा लोगों को वैराग्य तथा मोक्ष की ओर प्रवृत्त करने के लिए ही संभवतः वैराग्यशतक नामक ग्रन्थ की रचना की है वैराग्यशतक के प्रथम से अन्तिम श्लोक में संसार की निःसारता, विषय भोगों से उपरति आदि का विशद वर्णन करते हुए देवाधिदेव शंकर या परब्रह्म की ओर अग्रसर होने की बात करते हैं। जीवन में मोक्ष प्राप्ति करने के उपाय का वर्णन करते हुए भर्तृहरि कहते हैं— हाथ को पात्र बनाने वाले, स्वभाव शुद्ध भिक्षाटन से संतुष्ट, जहाँ कहीं भी बैठ जाने वाले और विश्व को तिनेके के समान बारम्बार देखने वाले

योगियों की शिव की कृपा से अनायास प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण परमानन्द के ज्ञान की इच्छा बिना शरीर का त्याग किये ही कोई मनुष्य करता है अर्थात् जीवनमुक्त बनना चाहता है⁶⁰— मोक्ष प्राप्ति के लिए विषयों का त्याग करके ब्रह्म चिन्तन करना आवश्यक है। इसलिए हे मन ! सांसारिक मिथ्या विकल्प भावनाओं से क्या प्रयोजन? उस अनन्त, अजर, परमोत्कृष्ट और प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का चिन्तन कर जिसके अनुगामी कृपणों के मान्य त्रिभुवन के राज्यादि भोग भी होते हैं⁶⁰— हे मन! चंचलता से तू कभी तो पाताल में प्रवेश करता है कभी कूद कर आकाश में जाता है तथा दश दिशाओं में भ्रमण करता है परन्तु भ्रम से भी निर्मल और हितकारी ब्रह्म का ध्यान नहीं करता जिससे कि तू मुक्त हो सकता है⁶¹— संसार की क्षणभंगुरता एवं समस्त भोगों की नश्वरता को जानते हुए भी इसी में रचे बसे जीवन को जीर्ण कर डाला⁶²—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता—

स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।

कालो न यातो वयमेव याता—

स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ॥

इस संसार में कानों को आनन्द देने वाला गान, नत्रों को आनन्द देने वाला नाट्य, जिह्वा को सुख देने वाला अधरामृत, ध्राणेन्द्रियों को तृप्त करने वाला सुगन्ध, त्वगिन्द्रिय को परमानन्द देने वाला स्तनस्पर्श—परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट करने वाले धूर्त इन पाँच इन्द्रियों के द्वारा अपने—अपने विषयों में फँसाया जाकर मैं टग गया।⁶³ इसलिए विविध भोग नाशवान हैं और वहीं भोगादि संसार के मूल कारण हैं। अतः हे पुरुषों! तुम किसलिए इनके निमित्त भटकते हो? बहुत हो गया, यदि हमारे कथन पर श्रद्धा करते हो तो आशाजाल के शमन से निर्मल चित्त को काम के नाश करने वाले आत्म—चिन्तन रूप निजधाम में लगाओं। इस प्रकार सांसारिक भोगों से विरत हो भगवान में भक्तिपूर्वक परब्रह्म का चिन्तन करते हुए चरम एवं परम पुरुषार्थ मोक्ष की कामना ही भर्तृहरि का सम्पूर्ण वैराग्यशतक में संदेश है। वे कहते हैं— जगत के स्वामी महेश्वर तथा जगत के अन्तरात्मा जनार्दन में भिन्ना का ज्ञान मुझमें नहीं है, चन्द्रकला शेखर शिवजी में मेरी भक्ति है⁶⁴—

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे

जर्नादने वा जगदन्तरात्मनि ।

तयोर्नभेप्रतिपन्तिरस्ति मे

तथापि भक्तिस्तरुणेन्द्रशेखरे ॥

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की विशद विवेचना एवं भर्तृहरि के शतकों में सम्बन्धित दृष्टान्तों के सम्यक् अनुशीलन एवं अन्वेषण के पश्चात् निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि

व्याकरणशास्त्र वेत्ता वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने अपने तीनों शतकों की रचना साहित्यशास्त्र के काव्य प्रयोजन में निर्दिष्ट, भारतीय संस्कृति के आधारस्तम्भ का अतिविशिष्ट तथा मानवजीवन का चरम एवं परम अभीष्ट—पुरुषार्थचतुष्टय के संपादनार्थ ही किया है। स्थूल रूप में स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने धर्म पुरुषार्थ के संपादनार्थ नीतिशतक, काम के संपादनार्थ श्रृंगारशतक तथा मोक्ष के संपादनार्थ वैराग्यशतक की सर्जना की। अर्थ का संपादन नीतिशतक में तो होता ही है श्रृंगार और वैराग्यशतक में भी किया गया है। इस प्रकार मानव जीवन की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए उसे समुन्नत बनाने के निमित्त ही भर्तृहरि ने पुरुषार्थचतुष्टय के संपादनार्थ शतकत्रय की सर्जना कर मानव मात्र का कल्याण किया है, क्योंकि वे जानते हैं कि कोई पुरुष वैराग्य में अनुरक्त है तो कोई नीतिमार्ग में विचरता है, कोई श्रृंगार रस में ही रमता है। इस तरह पृथ्वी पर मनुष्य भिन्न रुचि के हुआ करते हैं⁶⁵—

वैराग्ये सश्चरत्येको नीतौ भ्रमतिचापरः ।

श्रृंगार रमते कश्चिद् भुवि भेदाः परस्परम् ।।

सन्दर्भ सूची :

- | | |
|--------------------------------|---|
| 1. काव्यालंकार—1,2 | 2. वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथम उन्मेष, 2—5 कारिका |
| 3. महाभारत, अनुशासन पर्व, 54,9 | 4. वही, उद्योग पर्व, 61,15 |
| 5. मनुस्मृति—1,108 | 6. महाभारत, कर्णपर्व— 109,58 |
| 7. वैराग्यशतक—9 | 8. मनुस्मृति—6/12 |
| 9. वही—8 | 10. नीतिशतक—9 |
| 11. वही—105 | 12. वही—21 |
| 13. वही—63 | 14. वही—22 |
| 15. वही—83 | 16. वैराग्यशतक—16 |
| 17. वही—101 | 18. नीतिशतक—62 |
| 19. वही—55 | 20. वही—54 |
| 21. वही—103 | 22. वैराग्यशतक—59 |
| 23. वही—52 | 24. नीतिशतक—10 |
| 25. वही—89 | 26. वही—14 |
| 27. वही—20 | 28. वही—21 |
| 29. वही—55 | 30. वही—62 |
| 31. वही—53 | 32. वही—26 |
| 33. वही—23 | 34. वही—55 |
| 35. वही—65 | 36. वही—178 |

प्रो० योगेश चन्द्र दुबे

अध्यक्ष संस्कृत विभाग

ज०रा०वि०चि० चित्रकूट

मो० : 9452032221

छायावाद : शक्ति और सौन्दर्य

अमित कुमार तिवारी

शोध-छात्र

काशी हिन्दू वि०वि० वाराणसी

amitbhucrick@gmail.com



छायावाद महज संध्या सुन्दरी चाँदनीरात या नौका विहार का चित्र नहीं है, वह मूलतः शक्ति काव्य है। पुनर्जागरण चेतना का व्यापक और सूक्ष्म चित्रण है जो अपनी अर्थ प्रक्रिया में मानव व्यक्तित्व को गहरे स्तरों पर समृद्ध करता है। छायावादी काव्य ने मानवीय चरित्र की शक्ति को संपुटित कर उसको उजागर करने का प्रयास किया है।

शक्ति के विद्युतकण जो व्यस्त ¹

विकल विखरे है हो निरूपाय

समन्वय उसका करे समस्त

विजयिनी मानवता हो जाय।

शक्ति काव्य के संन्दर्भ में राम की शक्तिपूजा, और कामायनी का नाम लिया जाता है। निराला के राम और प्रसाद के मनु की मनः स्थिति बहुत कुछ मिलती है। राम की मनः स्थिति में मनुष्य की तरह हताशा दिखती है। जो कि राम के चरित्र को और भी मानव संवेदना से अनुप्राणित बनाती है।

अन्याय जिधर है उधर शक्ति कहते छल-छल, ²

हो गये नयन कुछ बूँद पुनः ढलके टुगजल।।

परन्तु इसके पश्चात मौलिक शक्ति की कल्पना भी होती है।

शक्ति की करो मौलिक कल्पना करो पूजन ³

छोड़ दो समर जब तक सिद्धि न हो रघुनंदन।।”

सम्पूर्ण रचना की दृष्टि यहीं से आलोकित होती है। पराधीन देश को इससे बड़ी दृष्टि कोई नहीं दे सकता। शक्ति तो अपने अन्दर ही है केवल उसे जागृत करना है। श्रद्धा सर्ग की अन्तिम पक्तियों में शक्ति और विजय का संदेश है – “विजयिनी मानवता हो जाय” और यही शक्ति का संचार भी है। कामयनी का मूल स्वर देव असुर और

मानव संस्कृतियों की टकराहट पहले देव व असुर की साझी संस्कृति टकराकर नयी मानवीय संस्कृति विकसित होती है। आधुनिक युग के पुनर्जागरण में यह सांस्कृतिक संघर्ष की वस्तु अर्थ के स्तर पर और संचरण शील हो जाती है। अब टकराहट भारतीय और पाश्चात्य धाराओं के बीच है। इस सारे संघर्ष में मौलिक रचना शक्ति की जय कवि के आत्मविश्वास का परिचायक है।

राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास, कामायनी में ही नहीं प्रसाद के आँसू में भी जिसे छायावादी विरह काव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। सामान्य द्वन्द्व और संघर्ष को अतिक्रमण कर जाने की प्रक्रिया अंकित हुयी है आँसू में कवि का अनुभव इतना सघन हो उठता है कि वह उसे अपनी वेदना का ही रूप लगता है।

“ सबका निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में ”

बरसो प्रभात हिमकण सा आँसू इस विश्वसदन में।

यहाँ पर निराशा का स्वर नहीं है। बल्कि विराट रचना आस्था फूटती है। सबसे बड़ी बात यहाँ ऐहिकता और शरीर का महत्त्व है जिसे मध्यकालीन संतो ने पानी का बुलबुला तथा गीध का भोजन कहा है। यही मानवीय आत्मविश्वास का आधार बनती है। संन्यास, वैराग्य, तपस्या, परलोकवाद में आस्था जैसे मूल्यों के स्थान पर अब ऐहिक जीवन इहलोक और मानव शरीर के आकर्षण का महत्त्व प्रतिपादित हो गया। निष्काम कर्म की जगह कामायनी में कर्म और भोग का सामंजस्य हुआ। “कर्म का भोग भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनन्द”।

काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग इच्छा का है परिणाम ⁵

तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।

छायावादी काव्य में शक्ति के आवाहन का एक और रूप इस युग के जागरण गीतों में मिलता है। यहाँ पुनर्जागरण चेतना की बड़ी सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुयी है। छायावादी काव्य में एक बड़ी संख्या इन प्रभाती एवं जागरण गीतों की है। जिसमें एक ओर शक्ति और चैतन्य का आवाहन है और दूसरी ओर समकालीन सन्दर्भ में वे राष्ट्रीय स्वाधिनता के संघर्ष से जुड़े हैं।

अब जागो जीवन के प्रभात, बीती विभावरी जागरी, ⁶

जागो फिर एक बार, प्रिय मुद्रित दृग खोलो

जाग तुझको दूर जाना जैसी अनेक जागरण कविताएँ हैं। इस तरह अपने व्यक्तिगत प्रणय और राष्ट्र प्रेम की अनुभूतियों में छायावाद मूलतः शक्तिकाव्य है। यहाँ शक्तिकाव्य का सामान्य अर्थ राष्ट्रीय काव्य नहीं लगाना है। छायावादी काव्य में राष्ट्रीय जागरण से अधिक समग्र चेतना का जागरण है। उसमें अन्तर्निहित शक्ति है यहाँ राष्ट्रीय जागरण सांस्कृतिक जागरण के अंग के रूप में आता है। जो पुनर्जागरण की मूलधारा के अनुरूप है।

राजनीतिक ढंग से जो कार्य गाँधीवाद ने किया साहित्यिक ढंग से वही कार्य छायावाद ने किया। पुनरुत्थान परक जातीय भावना को छायावादी कवियों ने भी प्रतिध्वनित किया पुनरुत्थान भावना प्रसाद जी में सर्वाधिक थी प्रसाद के अनुसार संस्कृति का जन्म सबसे पहले भारत में ही हुआ जैसे बुद्ध की अहिंसा अशोक की करुणा संसार को भारत की देन है। प्रसाद के बाद अपनी परम्परा का गौरव बोध सबसे अधिक निराला में था। छत्रपति शिवाजी का पत्र औरंगजेब समर्थक जयसिंह के लिए नहीं बल्कि अंग्रेज समर्थक आधुनिक जयसिंह के लिए है। “जागो फिर एक बार” कविता की दूसरी किस्त में भी निराला ने सांस्कृतिक परम्परा की दुहाई देकर आत्मगौरव और उद्बोधन का भाव जगाया है।

शेरों की मांद में ⁷

आया है आज स्यार

जागो फिर एक बार

‘तुलसीदास’ (1935) में स्वाधीनता की इस भावना का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। छायावादी कवियों ने स्वतंत्रता को बड़े व्यापक भवना के साथ पेश किया है— स्वतंत्रता जिसमें मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक आदि सभी प्रकार की मुक्ति का भाव निहित हो।

छायावादी कवियों ने वाह्य जगत की कुरूपता को सौन्दर्य में परिणत कर दिया। उन्होंने स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया और स्थूल और सूक्ष्म रूपों में उसके विविध स्वरूपों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। छायावादी कवियों ने प्रकृति को नया अर्थ संदर्भ दिया है जो हिन्दी कविता के लिए एक नया प्रयास सिद्ध हुआ है। प्रकृति सजीव रूप में सामने उत्पन्न होती है। वह कवि उससे बात करता है, प्रकृति उसका मार्ग दर्शन करती है।

छायावादी कवि ने प्रकृत को मानव जीवन के अन्तः स्पन्दन में सूक्ष्मता से आतंकित करने का प्रयास किया। वसंत उनके यौवन उल्लास का पतझड़ उनकी उदासी तथा बादल विद्रोह का प्रतीक है। छायावादी कविता में प्रकृति सौन्दर्य नारी सौन्दर्य का प्रतिमान बन गया। प्रकृति नारीमय बन गयी और नारी प्रकृतिमय। पंत में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा और विस्मय का भाव सबसे अधिक है—

कहो तुम रूपसि कौन? ⁸

व्योम से उतर रही चुंपचाप— (पंत)

प्रकृति को नारी के रूप में चित्रित करने में पंत अग्रणी है। पंत प्रकृति को नारीवत चित्रित करते हुए उसकी मांसलता से मुक्त रखने में समर्थ है। जबकि निराला की कविताओं में प्रगाढ़ ऐन्द्रियता मिलती है। जूही की कली, शेफालिका इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य। निराला ने सौन्दर्य की आराधना विराट रूप में की है। सूक्ष्म और कोमल रूप में नहीं।

छायावादी कवियों ने प्रकृति को वस्तुगत रूप में चित्रित न करके उसके माध्यम से उन्होंने अपने भावोच्छ्वासों और कोमलतम भावनाओं की व्यंजना की है। इसलिए उनकी सौन्दर्यानुभूति उनके आन्तरिक सौन्दर्य बोध से सम्पृक्त है। प्रकृति उनके अन्तर्भावनाओं से सर्वथा अनुरजित है।

गहरे धुधले धुले सांवले

मेघों से मेरे भरे नयन।

छायावाद में नारी सौन्दर्य के प्रति सहज आस्था और भावमय हृदय का निश्छल उच्छ्वास प्रकट हुआ है। यहाँ कोई कुंठा, उत्तेजना, विकृति अथवा वासना नहीं है।

तुम्हारे रोम-रोम से नारि ⁹

मुझे है स्नेह अपार।

मध्यकालीन कवियों ने अलंकरण के माध्यम से जहाँ नारी के स्थूल अंगों की सौन्दर्यता को उभारा वही आत्मा की दीप्ति को दबा दिया। छायावादी कवि नारी के शारीरिक सौन्दर्य के मोह को छोड़कर आन्तरिक सौन्दर्यता पर ध्यान केन्द्रित किया। प्रसाद में नारी सौन्दर्य के प्रति अतृप्ति का भाव रहा है। प्रसाद के सौन्दर्य वर्णन में गोपन व सांकेतिकता है। प्रसाद नारी सौन्दर्य के प्रति अधिक रागमय भावप्रवण और अन्तर्मुखी रहे हैं। निराला नारी सौन्दर्य को सांस्कृतिक परिवेश में व्यंजित करते हैं। नारी के गृहिणी-सौन्दर्य के प्रति उनके मन में अत्यन्त अनुराग रहा है। उनकी बहू कविता इसका उत्कृष्ट प्रमाण है।

निराला ने अपनी पुत्री सरोज के सौन्दर्य को प्रकृति के कण-कण में स्पन्दित होते हुए देखा। सरोज के तारुण्य आगमन की सुघरता को वीणा पर गाए गये मालकोश राग से उपमित कर उन्होंने अभूतपूर्व पवित्र सौन्दर्यानुभूति की व्यंजना की है। पंचवटी प्रसंग के माध्यम से निराला ने सूर्यणखा के मांसल और उत्तेजक विराट सौन्दर्य को रूपायित किया। इस कविता में इतनी मांसलता है कि रामकुमार वर्मा ने लिखा कि जो लोग छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहते हैं। उनके लिए पंचवटी प्रसंग एक चुनौती है। प्रसाद की रचनाओं में मांसल सौन्दर्य का अमांसल चित्रण अथवा ऐन्द्रिय सौन्दर्यानुभूति का अतीन्द्रिय चित्रण प्रचुरता में मिलता है। वे नारी की देह छवि की अपेक्षा प्राण छवि पर आकर्षित रहें। छायावादी कवियों ने ऐन्द्रिय सौन्दर्यानुभूति को आध्यात्मिक और सांस्कृतिक स्पर्श से सम्पृक्त कर उर्ध्वमुखी और उदात्त बनाया। छायावादी सौन्दर्य में पवित्रता के दर्शन होते हैं।

-उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं। ¹⁰

- तुम्हारे छूने में था प्राण संग में पावन गंगा स्नान।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.	कामायनी जयशंकर प्रसाद	- 26 PAGE
2.	राम की शक्ति पूजा निराला	- राग विराग - 56
3.	वही निराला	
4.	आँसू जयशंकर प्रसाद	- 14
5.	कामायनी जयशंकर प्रसाद	- 14
6.	छायावाद प्रतिनिधि रचनाएं	- 68
7.	राग विराग निराला	- 38
8.	पंत रचनावली पंत	- 55
9.	वही पंत	- 68
10.	कामायनी जयशंकर प्रसाद	- 19
11.	पंत रचनावली पंत	- 63

अमित कुमार तिवारी
शोध-छात्र
काशी हिन्दू वि०वि० वाराणसी
amitbhucrick@gmail.com



श्रीमद्भगवद्गीता में उपदिष्ट कर्मयोग की वर्तमान में प्रासंगिकता

डॉ० गंगा प्रसाद मिश्र

सहायक अध्यापक,
मथुरिया इंटर कालेज,
डिबार्ड, बुलन्दशहर
मो० : 9452684149



सच्चिदानन्दघन परमात्मा महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्यवाणी श्रीमद्भगवद्गीता सार्वकालिक धर्मग्रन्थ है। यह विभिन्न रूढ़ियों और संकीर्णताओं से ऊपर उठकर प्रत्येक युग के मानवमात्र को उसके परमकल्याणकारी श्रेय मार्ग के अवलम्बन हेतु परम सहायक है। विचार करने पर स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता का मुख्य तात्पर्य अनादिकाल से अज्ञान के कारण जन्मजरामरणरूप बन्धनों में जकड़े जीव को दुःख-रूप इस संसारचक्र से आत्यन्तिक मुक्ति हेतु तैयार करना और सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति करना है। इसके लिये गीता में ऐसे उपायों का उपदेश किया गया है, जिनके द्वारा मनुष्य अपने समस्त सांसारिक कर्तव्यकर्मों का भलीभाँति निर्वाह करता हुआ ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है और विविध दुःखरूप इस भौतिक संसार में आवागमन से सदा के लिये मुक्त हो सकता है। गीता में उपदिष्ट भगवान् श्रीकृष्ण के वचन आज भी मानवमात्र के लिये परम उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

गीताकार ने परमात्मा की प्राप्ति के लिये दो प्रकार की निष्ठाओं का उपदेश किया है—

(1) 'साङ्ख्यनिष्ठा' और (2) 'योगनिष्ठा'। इनको ही क्रमशः 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' नाम से अभिहित किया गया है। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता अर्थात् योगनिष्ठा को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सिद्धि अर्थात् साङ्ख्यनिष्ठा को ही प्राप्त होता है।^१ वस्तुतः तथ्य तो यह है कि कोई भी मनुष्य किसी भी काल में विना कोई कर्म किये क्षण मात्र भी नहीं रह सकता है, क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजन्य गुणों द्वारा परवश होकर कर्म करने के लिये बाध्य है।^२ ध्यातव्य है कि उक्त दोनों ही निष्ठाएँ सार्वकालिक रूप से उपयोगी हैं। मानवमात्र का परम कल्याण दोनों में से किसी एक के अपनाने पर पूर्णतः सम्भव हो सकता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। प्रस्तुत शोधपत्र में 'कर्मयोग' का प्रतिपादन किया जाना अभीष्ट है अतएव उसी पर विचार किया जा रहा है।

कर्मयोग को गीताकार ने योगनिष्ठा के अन्तर्गत उपदिष्ट किया है। सब कुछ भगवान् का समझकर सिद्धि-असिद्धि में समान भाव रखते हुए आसक्ति और फल की इच्छा का त्याग करके भगवान् की आज्ञा मानकर

कर्म करना⁴ अथवा श्रद्धाभक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीर से सब प्रकार भगवान् के शरणागत होकर नाम, गुण और प्रभाव सहित उनके स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना⁵ 'योगनिष्ठा कहलाती है। इसी को भगवान् ने समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थकर्म, एदर्थकर्म एवं सात्त्विक त्याग आदि नामों से अभिहित किया है।

गीताकार के अनुसार समस्त कर्मों में और सांसारिक पदार्थों में फल और आसक्ति का सर्वथा त्याग करके अपने वर्णाश्रम के अनुसार शास्त्रविहित कर्म करते रहना चाहिये। यही कर्मयोग है। भक्ति का समावेश भी इसके अन्तर्गत हो जाता है। गीता में परमेश्वर को सारे संसार में व्याप्त बतलाकर अपने-अपने वर्णोचित कर्म द्वारा भगवान् की पूजा करने की बात कही गयी है।⁶ कर्मयोग का आचरण करने वाले मनुष्य के लिये सर्वप्रथम इन्द्रियनिग्रह आवश्यक है, वह इन्द्रियनिग्रह दिखावटी न होकर मन से होना चाहिये। गीताकार के अनुसार मन से अपनी इन्द्रियों का वश में करके अनासक्त भाव से जो पुरुष समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है वही श्रेष्ठ है अन्यथा तो हठपूर्वक अपनी इन्द्रियों को रोककर जो इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी है।⁷ भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट उद्घोष किया है कि अपना कर्तव्यपालन करते हुए जो कुछ भी प्राप्त हो उसे भगवान् का कृपाप्रसाद समझकर श्रद्धाभक्ति पूर्वक भगवान् को अर्पण करके उसका सेवन करना चाहिये। सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति अन्न से होती है, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से, वृष्टि यज्ञ से और यज्ञ विहित कर्म से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कर्मसमुदाय वेद से और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परमात्मा सदा ही सबमें प्रतिष्ठित है।⁸ गीता के अनुसार जो पुरुष इस संसार में अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ में ही जीवन व्यतीत करता है। इसलिये मनुष्यमात्र को आसक्ति से रहित होकर अपने कर्तव्यकर्म को भली प्रकार से सदैव करते रहना चाहिये।

यहाँ उल्लेखनीय है कि कर्मयोग का आचरण गीता में समस्त मानवसमुदाय के लिये उपदिष्ट किया गया है। यहाँ ऐसी आशंका कदापि नहीं करनी चाहिये कि जो ज्ञानीजन हैं अर्थात् जिनको आत्मबोध हो गया है ऐसे लोगों के लिये कर्मयोग का आचरण बाध्यकारी नहीं है। वस्तुतः कर्मयोग तो सबके लिये आचरणीय है ऐसा गीताकार का स्पष्ट सिद्धान्त है। यहाँ पर उन्होंने जनक आदि तत्त्वज्ञ ज्ञानीजन का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि कर्मयोग का सिद्धान्त सबके द्वारा पालनीय है। उन्होंने कहा है कि जनक आदि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे।⁹ वस्तुतः श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण किया करते हैं, अन्य पुरुष भी उनका अनुसरण करते हुए वैसा ही आचरण किया करते हैं। इसी प्रसंग में महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "मुझे इन तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं निरन्तर कर्तव्यकर्म करता रहता हूँ। यदि कदाचित् मैं सावधान होकर अपना कर्तव्यकर्म न करूँ तो बहुत बड़ी हानि हो जाय, क्योंकि मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग

का अनुसरण करने हैं। मेरे कर्म न करने पर सारी प्रजा नष्ट-भ्रष्ट हो सकती है, जिसका दोष मुझ पर होगा ¹⁰ भगवान श्री कृष्ण के अनुसार कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्म करते हैं उसी प्रकार आसक्ति रहित विद्वान् को भी लोकसंग्रह के लिये अपना कर्तव्य कर्म सदैव करते रहना चाहिये। परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करें किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भली-भाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाये।¹¹

गीताकार का कहना है कि वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं, फिर भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है ऐसा अज्ञानी पुरुष अपने को ही 'कर्ता' मान बैठता है। ¹² जबकि तत्ववेत्ता पुरुष ऐसा नहीं करता, वह तो अनासक्त भाव से अपना कर्तव्य कर्म करते हुए नित्य निरन्तर ऐसे भगवद्वर्षण करता रहता है। ¹³ जो पुरुष प्रकृति के गुणों से मोहित रहते हैं वे तो सदैव गुणों से मोहित रहते हैं वे तो सदैव गुणों और कर्मों में आसक्त रहते हैं और आसक्ति से युक्त होकर उनके द्वारा किया गया कर्म सदैव सन्तुष्टिदायक ही हो ऐसा सम्भव नहीं। क्योंकि जब तक कर्तापन के अभिमान से युक्त होकर कर्म का आचरण किया जायेगा और फलाकांक्षा भी बनी रहेगी तो मनुष्य कभी आत्मिक शान्ति नहीं प्राप्त कर पायेगा। ¹⁴ ऐसा श्रीमद्भगवद्गीता का स्पष्ट सिद्धान्त है।

उपर्युक्त कर्मयोग की वर्तमान में सर्वत्र उपयोगिता है। आज आधुनिकीकरण की इस भागमभाग दौड़ में जहाँ हम कम परिश्रम के द्वारा अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, वहीं घर- परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यकर्म को भी निरन्तर भूलते जा रहे हैं। जब हमें अपना अभीष्ट लाभ प्राप्त नहीं होता तो हम हताशा के शिकार होकर कुण्ठाग्रस्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में देश और समाज विरोधी गतिविधियों में संलिप्त होने की प्रबल सम्भावना भी उत्पन्न हो जाती है, जो देश और समाज के साथ-साथ स्वयं के लिये भी घातक सिद्ध होती हैं। कदाचित् ऐसा न हो इसके लिये श्रीमद्भगवद्गीता के उपर्युक्त कर्मयोग के सिद्धान्त को सर्वात्मना मानकर तदनुसार बताये गये मार्ग पर चलकर देश, समाज और अपने कल्याण को सिद्ध करने की आवश्यकता है। आज देश और समाज भयंकर विशाक्त वातावरण से प्रदूषित होता जा रहा है " वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना को भुलाकर लोग एक दूसरे के शत्रु बनते जा रहे हैं। स्वार्थसिद्धि हेतु लोग एक दूसरे का प्राण लेने में भी संकोच नहीं करते। येनकेन प्रकारेण मूढबुद्धि अज्ञानी जन के लिये श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मयोग का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। किन्तु इसके लिये जैसा कि गीताकार ने कहा है कि कर्मयोग के तत्त्व को जानने वाले और अपने कर्तव्यकर्म का भलीप्रकार निर्वाह करने वाले विद्वान् को चाहिये कि उक्त प्रकार के अज्ञानीजन को उनके कर्तव्यकर्म का ज्ञान कराते हुए उन्हें सत्कर्मों का आचरण करने हेतु प्रेरित करें। तभी देश और समाज की उन्नति हो सकती है और प्राणिमात्र का कल्याण सम्भव है।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
गीता 3/3
2. द्रष्टव्य, गीता -3/4
3. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यावशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
गीता 3/5
4. द्रष्टव्य, गीता -2/47-51
5. द्रष्टव्य, गीता -6/47
6. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्सर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
गीता 18/46
7. द्रष्टव्य, गीता -3/6-7
8. द्रष्टव्य, गीता -3/14-15
9. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
-गीता 3/20
10. द्रष्टव्य, गीता -3/22-24
11. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोशयेत्सर्वकर्मणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥
-गीता 3/25,26
12. द्रष्टव्य, गीता -3/27
13. द्रष्टव्य, गीता -3/28,30
14. द्रष्टव्य, गीता -3/33

डॉ० गया प्रसाद मिश्र

सहायक अध्यापक,
मथुरिया इण्टर कालेज,
डिबार्ई, बुलन्दशहर
मो० : 9452684149

पाश्चात्य समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'

ललित कुमार मिश्र

शोध छात्र

गंगानाथ झा विद्यापीठ

रा0सं0सं0, इलाहाबाद

मो0 : 9454086190



संस्कृत विश्ववाणी है। यह विश्व की प्राचीनतम भाशा है। वैसे तो अपनी व्यापकता के कारण संस्कृत-वाङ्मय भारत से बाहर के देशों में प्रचलित अवश्य था, किन्तु पाश्चात्य देशों में तो संस्कृत-वाङ्मय का प्रचार-प्रसार अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हो सका। यद्यपि इस शती में हमने परतन्त्रता का दंश झेला था तथापि यह शती हमारे लिए केवल पीड़ाकारिणी ही नहीं रही। इसने हमें संजीवनी भी दी। यह काल इसी कारण से संस्कृत का 'पुनर्जागरण काल' भी कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार संस्कृत भाषा व वाङ्मय का वैश्विक प्रसार विश्व संस्कृति के इतिहास में भी एक अभूतपूर्व घटना थी। जैसा कि प्रो० ए०ए० मैकडॉनल का कथन है- "Since the Renaissance there has been no event of such world-wide significance in the history of culture as the discovery of Sanskrit Literature in the latter part of the eighteenth century.*"1

वैसे तो संस्कृत-साहित्य का भण्डार अनेकानेक उत्कृष्ट कोटि के काव्यों व नाटकों से परिपूर्ण है, तथापि इनमें से भी कतिपय ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्होंने अपने अलौकिक प्रभाव से विश्वभर के लोगों को हतप्रभ कर दिया। ऐसे ही अद्वितीय ग्रन्थों में से एक है- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'। यह ऐसी महनीय कृति है जिसने केवल कृतिकार को ही अमर नहीं बनाया, अपितु रचनास्थल को भी वैश्विक ख्याति दे दी। पाश्चात्य समीक्षक मैकडॉनल महोदय इसे सर्वोत्तम संस्कृत नाटक कहते हैं तो अन्य अनेक पश्चात्य समीक्षक इसे विश्व की सर्वोत्तम कृति मानते हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ही वह प्रथम नाट्य-कृति है जिसके आङ्ग्लभाषीय अनुवाद ने पाश्चात्य जगत् को पौरस्त्य-विद्या एवं संस्कृत-वाङ्मय की ओर उन्मुख किया।

कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने 1784 ई० में बंगाल में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना के अनन्तर विपरीत परिस्थितियों में संस्कृत भाषा का अध्ययन करके 1789ई० में इस महनीय कृति का आङ्ग्ल-भाषा में अनुवाद किया और फिर जॉन फॉस्टर ने इसे जर्मन-भाषा में अनूदित किया। शाकुन्तल के इस जर्मन भाषानुवाद को जब तत्कालीन जर्मन कवि गेटे महोदय ने पढ़ा तो वे इतने अभिभूत हुए कि उन्होंने शाकुन्तल को अनेकानेक आह्लादोत्पादक हेतुओं का एकीभूत अभूतपूर्व सङ्ग्रह कह दिया-

Wouldst thou the young year's blossoms and the fruits of its decline, And all by which the soul is charmed, enraptured, feasted, fed?

Wouldst thou the earth and heaven itself in one sole name combine? I name thee, O Sakuntala, and all at once is said.”²

ध्यातव्य है कि गेटे महोदय ने यह टिप्पणी शाकुन्तल के द्विगुणित अनुवाद मात्र को पढ़कर की थी, मूल ग्रन्थ को पढ़कर नहीं।

अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् महाकवि कालिदास को शाकुन्तल के कवि के रूप में ही स्मरण करते हैं, जो इस कृति की उत्कृष्टता का प्रमाण है। एक प्रख्यात पाश्चात्य विद्वान् हम्बोल्ट महाकवि कालिदास को शाकुन्तल के प्रसिद्ध लेखक के रूप में उद्धृत करते हुए कहते हैं—

“Kalidasa, the celebrated author of the Sakuntala, is a masterly describer of the influence which Nature exercise upon the mind of lovers.”³

हम्बोल्ट महोदय इस रूप में महाकवि को विश्व के कवियों में सर्वोच्च स्थान देते हैं।

एक अन्य जर्मन विद्वान् वॉल्टर रूबेन महोदय अपनी पुस्तक “Kalidasa: The Human meaning of his works” में कालिदास को भारतीय साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में वर्णित करते हैं। वे महाकवि की समस्त कृतियों के प्रशंसक हैं, तथापि एक राजा और वनवासिनी बाला शकुन्तला के प्रेम पर आधारित कृति ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ से वे सर्वाधिक प्रभावित हैं। वे विस्मित हैं कि एक प्रेमकथा में समाज के प्रत्येक वर्ग का भी मनोवैज्ञानिक चित्रण है। एक निम्नवर्गीय मछुआरा जो क्षणभर पूर्व चौरकर्म के आरोप में आरक्षियों के प्रताड़न का पात्र था क्षणभर पश्चात् वही राजा के अनुग्रह से राजप्यालक की मैत्री का पात्र हो जाता है। रूबेन महोदय इस उत्कृष्ट कृति में वर्णित लौकिक तत्त्वों, प्रकृति—मानव के आत्मीय सम्बन्धों, पुत्री की विदाई के अवसर पर वनवासी पिता के हार्दिक उद्गारों पर सम्मोहित हैं—

“The act is even for Europeans infinitely moving with its heart sending Farwell. For in Europe too the bride leaves her home with tears, a custom which is dying out, however.”⁴

वस्तुतः शाकुन्तल निर्विवादित रूप से कालिदास के कवित्व का सर्वोत्तम निदर्शन है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों यथा श्लेगल महोदय, सर विलियम जोन्स, सर मोनियर विलियम्स इत्यादि ने कालिदास को ‘भारत का शेक्सपियर’ कहा है और इसका कारण ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ ही है। सर मोनियर विलियम्स शाकुन्तल को कालिदास की सर्वोत्तम कृति स्वीकार करते हैं—

“No composition of Kalidasa displays more the richness of his poetical genius, the

exuberance of his imagination, the warmth and play of his fancy, his profound knowledge of human heart..... in short more entitles his to rank as the Shakespeare of India.”⁵

प्रख्यात पाश्चात्य समालोचक कीथ महोदय भी शाकुन्तल को असन्दिग्ध रूप से कालिदास की नाट्यकला का सर्वोत्कृष्ट रूप मानते हैं।⁶

प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों से ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। शाकुन्तल को जिस किसी ने भी जिस भी रूप में (मूल अथवा अनूदित) पढ़ा, जाना अथवा समझा वह उसके आकर्षण से बँधता चला गया। यद्यपि कीथ महोदय महाकवि कालिदास को संकुचित विचारधारा वाला एवं केवल उच्चवर्ग तक सीमित रहने वाला कवि कहकर उनकी आलोचना करते हैं, तथापि ‘शाकुन्तल’ जैसी सार्वभौम और अद्वितीय कृति की रचना करने के कारण वे भी उनके समक्ष नतमस्तक हैं।

“We may be grateful that, confined as he was, he accomplished a work of such enduring merit and universal appeal as Sakuntala, which even in the ineffective guise of translation has won general recognition as a masterpiece.”⁷

महाभारत के नीरस ‘शाकुन्तलोपाख्यान’ पर आधारित इस आह्लादमयी कृति में वर्णित स्वर्गीय व दैवीय तत्त्वों, भारतीय मिथकों शाप, वरदान, शकुन, अपशकुन इत्यादि की अवधारणाएँ निश्चित रूप से पाश्चात्य विद्वानों के लिए अविश्वसनीय हैं, क्योंकि ये सब उनके परिवेश एवं संस्कृति से भिन्न हैं, तथापि इस कृति में गुम्फित भावाभिव्यक्ति की कोमलता, कलात्मक सौन्दर्य, समाजवादी विचारधारा, पशु-पक्षियों, वृक्षों-वनस्पतियों के साथ मानव का हार्दिक तथा आत्मीय सम्बन्ध- इत्यादि तत्त्व पाश्चात्यों को अपने सम्मोहन से मुक्त नहीं होने देते।

मछली के पेट से मिली एक मुद्रिका (अंगूठी) प्रेमी-युगल के विस्मृत प्रेम का स्मारक बन जाती है। यही बात इसे विश्व की अन्य प्रेम-कथाओं से पृथक् और अद्वितीय बनाती है। प्रकृति और मानव के सम्बन्धों का जैसा चित्रण इस कृति में मिलता है वैसा विश्व-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वान् ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ को अतुलनीय मानते हैं।

वस्तुतः शाकुन्तल केवल कालिदास का ही सर्वस्व नहीं है अपितु समस्त भारतीय वाङ्मय व भारतीय संस्कृति का भी सर्वस्व है।

पाश्चात्य विद्वानों की समीक्षाओं और टिप्पणियों ने इस कृति को वैश्विक ख्याति ही नहीं दी अपितु पर्यावरण प्रदूषण, सामाजिक व सांस्कृतिक प्रदूषण के इस वर्तमान युग में इस कृति की उपादेयता और उत्कृष्टता को और भी अधिक बढ़ा दिया है।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. A History of Sanskrit Literature by MacDonnell, Chapter - 1, Introductory, p-1
- 2- x\\$/s ds teLHkk"kh; fVIi .kh dk bDch0 bLVfod }kjk
fd; k x; k vk\yHkk"kkupkn
3. M.R. Kale dh ^vfHkKku'kkd\rye~*] P-14
4. Kalidasa: The human meaning of his works by
Walter Ruben year 1957, pp -56-57
5. e0vkj0 dkys dh vfHkKku'kkd\rye} i 0 14
- 6- , 0ch0 dhFk&d'r Sanskrit Drama dk mn; Hkkuq
fl g&d'r fglnh vupkn ^l lÑr ukVd*] i 0 152]
i ddk"ku o'kz 1965
7. Sanskrit Drama by A.B. Kieth, Chapter-VIth
Kalidasa, p. 160, Oxford University Press-1965

ललित कुमार मिश्र

शोध छात्र

गंगानाथ ज्ञा विद्यापीठ

रा0सं0सं0, इलाहाबाद

मो0 : 9454086190



नव मानववाद - भौतिक मानववाद की आध्यात्मिक परिणति

डॉ० प्रबुद्ध मिश्र

उपाचार्य, दर्शन शास्त्र विभाग,
नेहरू ग्राम भारती डीम्ड विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद, उ०प्र०



मानवेन्द्रनाथ राय की दृष्टि में परम्परागत मानववाद ने मानवीय स्वतंत्रता के जिस सार तत्व को प्रतिष्ठित करना चाहा, उदारवाद ने उसे उजागर किया और दिशा प्रदान की। परन्तु विशाद यह है कि आगे चलकर यह दिशा विभिन्न ध्रुवों में बंट गई। मानववाद का मानव तो दृष्टिगत बना रहा, परन्तु उसी मानव का 'मूलभूत सार' दृष्टि से ओझल हो गया। स्वयं मानव की समग्रता धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अथवा राज्य की एक सावयवी इकाई के रूप में खण्डित हो गयी। परिणाम यह हुआ कि मूल लक्ष्य से विश्रृंखलित यह विचारधाराएं स्वयं की मान्यताओं के पक्ष और विपक्ष के द्वन्द्व में इस प्रकार उलझ गयीं कि, उस 'मूल-मानव' की रक्षा के प्रयास में किसी-न-किसी प्रकार के 'सामूहिक अहं' का सपक्ष प्राप्त करके उसको ही प्रतिष्ठित कर लिया। यह तथ्य मानववाद के विकास क्रम के विश्लेषण में परिलक्षित होता है।

वृहत्तर रूप में मानववाद एक विचार है जिसमें मानव को सभी हितों का केन्द्र माना जाता है। मानव ही सृष्टि की सर्वोत्तम कृति है। संक्षेप में मानववाद मानव के निजी हितों और अपने स्वजनों के हितों की अभिव्यंजना है।^१ इस मूल आधारभूमि पर मानववाद के कई प्रकार के सम्प्रदाय स्थापित हुये। जिन्होंने रूढ़िबद्ध समाज में मानव अस्मिता के स्थापना की बात शुरु कर अपने को स्थापित किया। लेकिन उनकी अपनी एक सीमा थी। मनुष्य मात्र के समग्र उत्थान का प्रस्तावक न बन पाने के कारण एक स्थिर, चिन्तन नहीं बन सके।

आधुनिक मानववादी दर्शन के प्रकारों में आस्तिक मानववाद की स्थापना आगस्ट काम्टे ने किया। काम्टे परम्परागत मानववाद की अपूर्णता को दूर करने का प्रयास करते हुए आस्तिकता के प्रकृतिवाद के आधार पर धर्म का अन्वेषण किया।^२ उन्होंने ईश्वर की पूजा के स्थान पर मानवता के पूजा पर जोर देते हुए मानवीय धर्म को स्थापित किया। परन्तु यहां आस्तिक मानववाद की त्रुटि यह रही की मानवता की पूजा में मानवता भगवान् बन गयी और मानव भक्त मात्र बनकर रह गया।

प्रकृतिवाद को वैज्ञानिकता की ओर मोड़ते हुए महान चिन्तक कार्ल मार्क्स के अनुसार मानववाद को तभी स्थापित किया जा सकता है। जब निजी सम्पत्ति को समाप्त किया जाए और एक वर्ग रहित समाज की स्थापना की जाए। सामाजिक-असमानता और शोषण ही सभी मानवीय समस्याओं की जड़ है। उनके अनुसार क्रान्तिकारी

विद्रोह या संघर्ष के द्वारा ही मानववाद को उसके सही रूप में समाजवाद में स्थापित किया जा सकता है। इसीलिए मार्क्स ने आदर्श समाजवाद का खण्डन करके **प्रायोगिक मानववाद** की अवधारणा वैकल्पिक रूप में प्रस्तुत किया।⁶

राय के अनुसार मार्क्स का विकल्प पूंजीवादी शोषण से त्रस्त मानवता के लिए अत्यन्त आकर्षक है, परन्तु मार्क्स का प्रायोगिक मानववाद एक ओर तो मनुष्य के भौतिक कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा को पूर्ण आश्वासन प्रदान करता है वहीं दूसरी ओर मनुष्य की स्वतंत्रता और नैतिक मूल्यों की अवहेलना कर देता है।

उपयोगितावादी मानववाद का उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में अभ्युदय हुआ। **पियर्स, जेम्स, शिलर** और **ड्यूबी** ने उपयोगिता विचार को आन्दोलन के रूप में विकसित किया।⁶ मार्क्सवाद से आगे बढ़ते हुए उपयोगितावाद यह मानता है कि सभी सभ्यताओं में मानव-हित निहित है। सीधे शब्दों में उपयोगितावाद बहुत आकर्षक लगता है लेकिन राय की दृष्टि से उपयोगितावाद निश्चित रूप मानव मूल्य एवं धारणाओं में विश्वास रखता है परन्तु मानव शब्द कोई एकल सत्ता नहीं है, अनन्त मनुष्यों की अनन्त हिताकांक्षाओं में से एक 'मानव-हित' को परिभाषित नहीं किया जा सकता है।

समकालीन मानववादी चिन्तन की मूल भाव भूमि यह रही परन्तु अब परम्परागत मानववाद के 'मानव-हित' के विचार से आगे बढ़ते हुये मनुष्य को '**उच्च-जीवात्मा**' के रूप में प्रस्तुत करने तथा उसकी आन्तरिक शक्तियों को पहचानने का प्रयत्न किया गया। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह विचार प्रस्तुत किया गया कि जो लोग व्यक्ति की सृजनात्मकता, प्रेम, उच्च, मूल्य, उत्थान, आत्म-सिद्धि आदि का अध्ययन करते हैं, वे मानववादी विचारक हैं।

समकालीन पाश्चात्य मानववाद चिन्तन में **जॉक मारिता**⁷ ने **वीरोचित मानववाद** का प्रतिपादन किया। उनके दृष्टि में मानववाद में मनुष्य की पूजा नहीं की जाती है वरन् मानव जीवन के गौरव और उसके व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति आदरभाव रखते हैं। **एब्राहम मैसलो**⁸ के अनुसार व्यक्ति की पांच मूल आवश्यकताएं होती हैं। दैहिक, सुरक्षा, यूथचारिता, सम्मान और आत्मसिद्धि की आवश्यकता। मैसलो⁹ के अनुसार इन आवश्यकताओं की पूर्ति से ही मानव प्रसन्न और तनाव मुक्त हो सकता है। **रोजर्स** व्यक्ति की उन्मुक्तता को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। **रोजर्स**¹⁰ की दृष्टि में उसी व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्ण है, जो अपने सभी कार्यों को मुक्त रूप से करता है। **गोल्डस्टाइन**¹¹ के अनुसार व्यक्ति को सामाजिक संघर्षों से बचने, उसे सुरक्षा और निर्भयता प्रदान करने वाला सिद्धान्त ही मानववादी सिद्धान्त है। **फ्रैंकल**¹² का मध्य व्याप्त तनाव को शिथिल करना मानववाद है।

मानवेन्द्रनाथ राय की दृष्टि में समकालीन पाश्चात्य मानववादी विचारधारा वास्तव में मनोचिकित्सा से उत्पन्न हुयी है। जब मनोचिकित्सक मानसिक रोगियों का उपचार करने में अक्षम रहे तब उपरोक्त चिन्तकों के मन में मानव प्रकृति के दूसरे आयाम को जानने की इच्छा उत्पन्न हुयी और उपरोक्त विचारधाराएं विकसित हुईं। ये विचारधाराएं समाज में स्वस्थ व्यक्ति की संख्या में वृद्धि कर सकती हैं लेकिन दर्शन की शास्त्रीय समस्याओं की

मीमांसा न कर पाने के कारण स्वस्थ दर्शन की श्रेणी में नहीं आते हैं।

समकालीन भारतीय मानववादी दार्शनिक सम्प्रदाय में मानववादी दर्शन किसी धर्म विशेष अथवा किसी पुरानी दार्शनिक अवस्था में नहीं पनपा है। इसका उदय मनुष्य तथा उसके सामाजिक अस्तित्व के प्रति व्यापक चिन्तन से हुआ है। इसके उदय में बौद्धिक पुनर्जागरण एक कारणात्मक प्रेरक रहा है। समकालीन भारतीय मानववादी चिन्तन को उनके विषय सामग्री के आधार पर सामान्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम **आध्यात्मिक मानववाद** और द्वितीय **समाजवादी मानववाद**।

आध्यात्मिक मानववाद में गुरुवर रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, विवेकानन्द और देवराज के विचारों को रखा जा सकता है। **गुरुवर टैगोर**¹³ के अनुसार मनुष्य का वैशिष्ट्य तत्त्वों पर शासन करना या अपने से शारीरिक दृष्टि से सबल जीवधारियों को वशीभूत करने में नहीं है, बल्कि उसका वैशिष्ट्य एक नए सिद्धान्त स्वतंत्रता के उपभोग करने में अभिव्यक्त होता है। प्रकृति का नियामक सिद्धान्त **नियतत्ववाद** है। **महात्मा गांधी** के विचार है कि इस जगत में सबकुछ परिवर्तित हो रहा है, परन्तु इन समस्त परिवर्तनों के पीछे एक जीवन्त शक्ति है जो कभी परिवर्तित नहीं होती, जो सबको एक साथ मिलाकर रखती है।

विवेकानन्द¹⁴ के विचार में समस्त अशुभ भेद में है, समस्त पुम समानता में है, जो समस्त वस्तुओं की एकता और तद्रूपता में विद्यमान है। समाज सेवा और वैयक्तिक मुक्ति दो विरोधी मूल्य नहीं है। **लोक-संग्रह** द्वारा भी मुक्ति संभव है, और इस रूप में दोनों एक दूसरे से संबद्ध मूल्य है। **देवराज**¹⁵ का मानववाद, **सृजनात्मक मानववाद** है। इनके अनुसार दार्शनिक चिन्तन का केन्द्रबिन्दु बिन्दु मनुष्य है, वह विशेष रूप से सृजनशील है और आध्यात्मिक मनोवृत्ति का लोप शक्य नहीं है।

मानवेन्द्रनाथ राय के अनुसार आध्यात्मिक प्रवृत्ति की विचारधारा कोई सुव्यवस्थित और संगत विचारधारा नहीं है। उसमें दर्शन के तत्त्वों का अभाव है। अर्थहीन तथा अर्द्ध सत्य कथनों के माध्यम से वह दृढ़वादी आस्था पर नीति को प्रतिस्थापित करने का प्रयत्न करता है। ये विचारक वस्तुतः धर्म प्रचारक हैं, इनके द्वारा प्रचारित सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि शब्दों की कोई परिभाषा नहीं है, वे अमूर्त प्रत्यय हैं। उनका कुछ भी अर्थ निकाला जा सकता है।

समाजवादी विचारधारा में नेहरू और अम्बेडकर जी के विचारों को रख सकते हैं। समाजवादियों ने अपनी मीमांसा में धर्म के आधार को त्याग करके विज्ञान के सिद्धान्तों को अपना आधार बनाया। इससे मानववाद को रुढ़िवादिता से मुक्त होने का अवसर प्राप्त हुआ। नेहरू जी ने वैज्ञानिक मानववाद की धारणा का विकास किया। उनके अनुसार व्यक्ति और समाज के मध्य समन्वयात्मक आधार पर आन्तरिक और बाह्य जीवन का समन्वय किया जाए जिससे मनुष्य निरन्तर कुछ श्रेष्ठ बन सके। डॉ० अम्बेडकर वैयक्तिक स्वतंत्रता के कट्टर समर्थक थे। उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को अभिव्यक्ति, धर्म, पेशा तथा आनन्द प्राप्ति की स्वतंत्रता होनी चाहिए। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब पीड़ित वर्गों के ऊपर सामाजिक तथा राजनैतिक बन्धनों को हटाकर उन्हें प्रगति के

डॉ० गया प्रसाद मिश्र

सहायक अध्यापक,

मथुरिया इण्टर कालेज,

डिबाई, बुलन्दशहर

समान अवसर प्रदान किए जाए।

समाजवादी विचारधारा में मानव स्वतंत्रता की बात पर्याप्त स्तर तक सबलता से प्रतिष्ठित हुयी है। लेकिन समाजवादियों की यह धारणा कि व्यवस्था के माध्यम से ऐसा विधान प्रस्तुत होगा कि जिससे मनुष्य को स्वतंत्रता की निश्चिंतिता प्राप्त हो जायेगी। लेकिन सम्भवतः समाजवादी विचारधारा ने इतिहास के उन पन्नों की ओर ध्यान नहीं दिया कि व्यवस्था की स्थापना मनुष्य ने किया और फिर वहीं मनुष्य व्यवस्था का गुलाम हो जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक प्रक्रिया अति संक्रमणशील थी। एक ओर रूढ़िवादियों तथा प्रतिक्रियावादियों का समूह था जिसने सामान्य जन से आग्रह किया कि वे आधुनिक संस्कृति से प्रभावित न हो और उनको प्राचीन परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों के अनुकरण के लिए प्रोत्साहित किया ताकि धर्म की संस्कृति तथा सामाजिक निरन्तरता बनी रहे, लेकिन दूसरी तरफ प्रगतिशील लोगों का भी समूह था जिसने लोगों के ध्यान को सामाजिक जड़ता की ओर आकर्षित किया और आधुनिक संस्कृति तथा विज्ञान से उन्नतिशील विचारों को ग्रहण करने पर बल दिया। स्पष्टतः यह सामाजिक गत्यात्मकता के मध्य का ही संघर्ष था जिसने एक सामाजिक चेतना जागृत किया और उस बौद्धिक विचार के उदय में सहायता की जिसके कारण सामाजिक पुनरुद्धार एवं राजनैतिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो गया और व्यक्ति की समस्याओं की विचारधारा सम्बन्धी व्याख्या के लिए नव-मानववादी विचारधारा प्रोत्साहित हुई।

यह एक विडम्बना ही है कि समकालीन दर्शन के मौलिक विचारकों के सुषुप्तावस्था में होने के बावजूद मानवेन्द्रनाथ राय के चिन्तन की ओर राजनीतिक और अकादमिक जगत ने अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। उग्र राष्ट्रवाद से प्रारम्भ होकर साम्यवाद से गुजरती हुयी उनकी चिन्तन-यात्रा का नव मानववाद या वैज्ञानिक मानववाद तक पहुंचाना उन के स्वयं का वैचारिक उत्कर्ष ही नहीं वरन् औपनिवेशिक परतन्त्रता से मुक्ति की आकांक्षा करने वाली स्वातन्त्र्य-चेतना का अपने समय में प्रचलित विकल्पों की अपर्याप्तता का अनुभव करते हुए एक नए विकल्प का प्रस्तावक होना है।

मानवेन्द्रनाथ राय ने साम्यवाद की सफलता के आवरण को स्वच्छ कर उसकी वास्तविक अपर्याप्तता का विश्लेषण करते हुए उसके विफल होने की भविष्यवाणी की थी। राय द्वारा प्रस्तावित विकल्पों की ओर ध्यान न दिए जाने के ही कारण सामान्यतः यह समझ लिया जाता रहा है कि साम्यवाद की असफलता पूंजीवाद की विजय है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। साम्यवाद के एक सही विकल्प सिद्ध न हो सकने का तात्पर्य पूंजीवादी व्यवस्था की अपरिहार्यता नहीं है। यदि पूंजीवाद में मानवीय सम्वेदना का ह्रास शोषण-दमन-उत्पीड़न और अन्ततः एक हिंस्र मनोवृत्ति में डूबती हुई मानवता को देखा गया है तो यह देखना अब भी गलत नहीं है। इसलिए पूंजीवाद के विकल्प के अन्वेषण की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है तथा इस तलाश की प्रक्रिया में मानवेन्द्रनाथ राय के विचार की ओर ध्यानाकर्षण स्वाभावित है।

मानवेन्द्रनाथ राय के अनुसार सभी प्रचलित विचारधाराएं और व्यवस्थाएं मनुष्य की स्वतंत्रता के चरम उद्देश्य को

अपनी प्रक्रिया में विस्मृत ही नहीं कर देती बल्कि कई बार स्वयं उस के विरुद्ध हो जाती है। राय का मन्तव्य है कि आज असली संघर्ष पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच हैं, क्योंकि अनौपचारिक संसदीय लोकतंत्र में भी पूंजीवाद व्यवस्था का नैरन्तर्य अब घोषित सिद्धांत के रूप में भी तो कम से कम व्यवहार में उदारवाद के स्थान पर फांसीवाद की मांग करता है। इसीलिए मानवेन्द्रनाथ राय का यह विश्लेषण संगत प्रतीत होता है कि हमारे युग का संघर्ष सर्वसत्तावाद और लोकतंत्र के बीच है। इसीलिए मानवेन्द्रनाथ राय एक ऐसे राजनैतिक तन्त्र का प्रस्ताव करते हैं जिसमें सत्ता के किसी भी रूप का हस्तांतरण और केन्द्रीकरण न हो सके और व्यक्ति अपनी सम्प्रभुता का भोग कर सकें।

समकालीन वैश्विक संकट से उबरने के लिए एक नयी विश्व-व्यवस्था के चिन्तकों को मानववाद और नव-मानववाद की परम्पराओं की ओर उन्मुख होना होगा। इन स्रोतों से ही क्रान्ति के एक नए दर्शन की प्रेरणा ग्रहण की जानी चाहिए। व्यक्तिवाद के मानववादी सिद्धान्त से प्रेरित नव-मानववाद ने एक लौकिक विवेकवाद और विवेकवादी नीतिशास्त्र की सम्भावना स्थापित की थी। नव-मानववाद ने भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों और पद्धतियों को मनुष्य और समाज के अध्ययन पर लागू किया। सौ वर्ष पहले की अपेक्षा आज प्रकृति-जीव और जड़ की जानकारी बहुत अधिक हो जाने के कारण मनुष्य के जीवन और अर्न्तसम्बन्धों की समस्याओं के प्रति मौलिक वैज्ञानिक पद्धति अधिक सफल होने को परिबद्ध है। आज हम इस मान्यता के साथ प्रारम्भ कर सकते हैं कि मानव 'प्राक् इतिहास' जंगल से निकले दीर्घ अवधि व्यतीत हो चुकी है, कि सामाजिक सम्बन्धों में विवेकसम्मत समन्वय लाया जा सकता है और इसीलिए भ्रष्ट और क्षयकारी यथास्थिति को लोकतान्त्रिक स्वतंत्रता की नयी व्यवस्था से प्रतिस्थापित करने के प्रयासों के साथ नैतिक मूल्यों के अनुभव का मेल हो सकता है। एक नैतिक व्यवस्था विवेक सम्मत तरीके से संगठित समाज का ही सुफल है क्योंकि एक समन्वित भौतिक ब्रह्माण्ड की पृष्ठभूमि से उत्पन्न होने के कारण मनुष्य सारतः विवेकशील है और इसीलिए नैतिक है। समन्वित और पारस्परिक लाभकारी सामाजिक सम्बन्धों की विवेकसम्मत इच्छा से ही नैतिकता उत्पन्न होती है।

मानववादी विचारधारा में पाँच प्रकार के मानवीय मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। ये पाँचों मूल्य इस प्रकार से हैं— भौतिक मूल्य, बौद्धिक मूल्य, सौन्दर्यात्मक मूल्य, नैतिक मूल्य तथा आध्यात्मिक मूल्य। इन मूल्यों को आचार मीमांसा में स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व तथा न्याय के रूप में स्थापित किया गया है। इन्हें मनुष्य के लिए आवश्यक सद्गुण बताया गया है। इन सद्गुणों के सम्यक् सम्मिलन से मनुष्य को जीवन में आत्म सिद्धि प्राप्त होती है।

मानवेन्द्र नाथ राय के नव मानववाद में भी इन सद्गुणों को अनिवार्य मानवीय मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। नव मानववादी समाज व्यक्ति को समाज के साथ नाभि नाल बद्ध माना गया है और यह स्थिति तभी सम्भव है जब प्रत्येक स्वतन्त्र व्यक्ति समानता, बन्धुत्व और न्याय से अनिवार्यतः सम्पृक्त हो। लेकिन स्वतन्त्रता के मूल्य को नव मानववाद में प्राथमिक और सर्वोच्च मूल्य माना गया है। क्योंकि स्वतन्त्रता ही समस्त सद्गुणों की आधारशिला है। नव मानववादी विचार भूमि के आधार पर संक्षेप में कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य जीवन उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे किसी पंक्षी का जीवन जो समता, बन्धुता, और न्याय के साथ पिंजरे में कैद होकर निरंतर अपनी चैतन्यता खो रहा है।

मनुष्य पृथ्वी पर शून्य से नहीं अवतरित हुआ। जैविक विकास की दीर्घ प्रक्रिया के माध्यम से वह भौतिक विश्व की पृष्ठभूमि से विकसित हुआ है। उसकी नाल कभी कटी नहीं, अपने मस्तिष्क बुद्धि और इच्छा के साथ मनुष्य भौतिक ब्रह्माण्ड का एक अंगभूत हिस्सा बना रहा है।

यह ब्रह्माण्ड एक सुव्यवस्था है। यह एक विधि संचालित व्यवस्था है। इसलिए मनुष्य का सत्त्व और उसका सम्भवन, उसके भाव, इच्छा, विचार भी निश्चित हैं, मनुष्य सारतः विवेकशील है। मनुष्य में विवेक ब्रह्माण्ड के समन्वय की प्रतिध्वनि है। नैतिकता को मनुष्य की अन्तर्जात विवेकशीलता के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। केवल तभी मनुष्य सहजता और स्वेच्छा से नैतिक हो सकता है। विवेक उस नैतिकता के लिए एकमात्र आधार है जो अन्तरात्मा का एक निवेदन है और अन्तरात्मा, अपने क्रम में, परिवेश का सहज बाध और उस पर प्रतिक्रिया है। अपने अन्तिम विश्लेषण में अन्तरात्मा किसी भी तरह गुह्य और रहस्यपूर्ण नहीं है। यह एक जैविक क्रिया है, इसलिए चेतना के इस स्तर पर यान्त्रिक मनुष्य के अन्तर्गत विवेकशीलता उस सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था की एकमात्र आधारभूमि है जो कि नैतिक व्यवस्था भी है क्योंकि नैतिकता एक विवेकसम्मत क्रिया है। इसलिए सभी सामाजिक प्रयासों का उद्देश्य मनुष्य को अपनी अन्तर्जात विवेकशीलता के प्रति अत्यधिक सचेत करते रहना चाहिए।

समाज को पुनर्संगठित करने के किसी भी प्रयत्न का आरम्भ समाज की इकाई से होना चाहिए। यह भी कह सकते हैं कि उसके मूल से होना चाहिए। मानवीय विरासत के सम्पूर्ण भण्डार के आधार पर क्रान्ति का नया दर्शन विकसित करने और तदनन्तर राजनीतिक कर्मशीलता और आर्थिक पुनर्निर्माण के व्यवहार का ऐसा उद्यम नव-मानववाद कहा जा सकता है।

नव-मानववाद राष्ट्र या वर्ग के सीमाओं में विचार नहीं करता। उस का सम्बन्ध केवल मनुष्य से है। स्वतन्त्रता से उसका आशय व्यक्ति की स्वतंत्रता है। इसलिए इसे नव-मानववाद कहा जाता है। नव शब्द का प्रयोग इसलिए किया जा रहा है क्योंकि वह आधुनिक सभ्यता की शताब्दियों में प्राप्त वैज्ञानिक ज्ञान और सामाजिक अनुभव से सम्पन्न पुनर्बलित और सर्वाधिक मानववाद है।

नव-मानववाद वैश्विक है। वह उस अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के कल्पना लोक का अनुसरण नहीं करता जिसके लिए स्वायत्त राष्ट्र-राज्यों का अस्तित्व एक पूर्व शर्त है। एक विश्व या एक विश्व-सरकार का आदर्श राष्ट्रराज्यों की निरन्तरता की संगति में नहीं है। एक के लिए दूसरा एक पवित्र इच्छा अथवा इच्छित चिन्तन है। स्वतन्त्र पुरुषों-स्त्रियों का एक वैश्विक सर्वकल्याणमण्डल एक सम्भावना है। यह पूंजीवादी, फ्रांसीवादी, साम्यवादी या किसी अन्य प्रकार के ऐसे राष्ट्र-राज्यों की सीमाओं से अबाधित आध्यात्मिक समुदाय होगा जो वैश्विक मानववाद के प्रभाव में शनैः शनैः लुप्त होता जायेगा। यही मानवता के भविष्य का मौलिक परिदृश्य है।

रॉय के जीवन में स्वतंत्रता प्राप्ति का यह उत्स विचित्र चारित्रिक संगठन एवं बौद्धिक ऊँचाई के साथ पाते हैं। विचार और क्रिया का अद्भुत एकत्व उनके साथ हम पाते हैं। उन्होंने जैसा सोचा और समझा, वैसा ही जीवन जिया तथा उस आदर्श को धरती पर अनुदित करने हेतु सम्पूर्ण जीवन को उत्सर्ग कर दिया, भले ही वे कभी भी चैन से न रह पाये हों अपने लड़कपन में वे अराजकतावादी हुए लेकिन जैसे ही उन्हें पता चला कि इस प्रकार की क्रान्तिकारी राष्ट्रवादिता की सीमाएँ एवं त्रुटियाँ हैं तो वे साम्यवादी हो गये क्योंकि तब उन्होंने साम्यवाद का में मानववाद के लिए बेहतर गुंजाईश पायी। पर जब उन्होंने पाया कि साम्यवाद का आदर्श भी भ्रमात्मक ही है

तो वे साम्यवाद के मूल्यांकन एवं उनकी आलोचना तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि उस दिशा में आगे बढ़ते हुए, स्वतंत्रता के दर्शन को अधिक व्यवहार-संगत एवं यथार्थ मूलक बनाते हुए 'नव-मानवतावाद' की प्रतिष्ठा की। ऐसा करने में, अनुभूत बौद्धिक एवं व्यावहारिक सत्य के अनुशीलन में निर्भय एवं ईमानदारी पूर्वक आगे बढ़ते हुए उन्होंने सारी बाधाओं एवं कष्टों को पार किया चाहे वह व्यक्तिगत तकलीफ, आलोकप्रियता का दंश अथवा जीवन का खतरा ही क्यों न हो। दलगत राजनीति की त्रुटियों संसदीय प्रजातंत्र की अनुपयुक्तता आज भी सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है और पुनर्वापसी का अधिकार चर्चा के दायरे में आती रही है। इन सब बातों की वकालत राय ने कोई पचास-साठ वर्ष पूर्व की हैं भला ऐसे मेधावान बौद्धिक एवं वैज्ञानिक अनुभूति से युक्त समर्पित मानव की दृष्टि आर्षदृष्टा क्यों न हो। राय सचमुच में एक आर्षदृष्टा है। आर्षदृष्टा से तात्पर्य यहाँ किसी अन्तिम एवं परमदृष्टि से नहीं है, बल्कि उस दृष्टि से है जो सत्य के प्रति समर्पित है, जो निर्भय है और किसी भी लोभ सत्ता या शक्ति के वशीभूत नहीं है तथा जो अपने स्वरूप में अनुभाविक लौकिक एवं वैज्ञानिक है जिस दृष्टि के विचार का अनुप्रयोग लौकिक समाजिक आर्थिक राजनीतिक सत्य के अनुरूप है तथा जो लोक को एक रास्ता एवं नेतृत्व प्रदान कर सकती है। मानवेन्द्रनाथ रॉय एक व्यक्ति नहीं बल्कि एक संस्था है नव मानववाद कोई एक प्रस्तुत एवं सम्पन्न वैचारिक कृति नहीं बल्कि एक विचार प्रक्रिया एवं अभिवृत्ति है जो आर्षदृष्टि को समाहित करती है। मानवेन्द्रनाथ रॉय के इतर अन्य समकालीन भौतिकवादी चिन्तक अपने चिन्तन में भौतिकवाद और आध्यात्मवाद के द्वैत की समस्या में उलझे रह गये थे। मानवेन्द्रनाथ रॉय के चिन्तन का प्रारम्भ तो भौतिकता से होता है, वे मानते हैं कि यह ही एकमात्र सम्भव विश्व है परन्तु उनके चिन्तन की दिशा आध्यात्मिकता की ओर जाती है। वे कहते हैं कि 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' अंतिम मौलिक सत्य है।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राय, एम0 एन0, न्यू ओरियन्टेशन, रेनेसां पब्लिकेशन, कलकत्ता, 1996 पृ0 40
2. राय, एम0 एन0, वियॉण्ड कम्पुनिज़्म, पृ0 83, कपूर कुमकुम, नवोग्र, मानववाद और मार्क्स, क्लासिक पब्लिकेशन, जयपुर, 1996, पृष्ठ 166 से साभार।
3. Had a Rimarkable high level of orginality and achievements and a deeply held conviction of them inportence of individual attainment. Mosse Hedes, Homanism, the Greek Ideal and its survival (London : George Allen & Union, 1960

-
-
4. Love of Huminity constitutes the whole duty of man. August Comte, A general Review pestwism (New Yourk Hobert Speller & Sons 1957)
 5. The transcendence of privete property is therefore the complete emancipation of all human senss and attributes, But it this emancipation prceisely because these sense and attributes have become subsective and objective human. Karl Marx, Economic and philosophy monuscription of 1844.
 6. Just as Socratees brought philosophy down from the clouds into the mark place, pragmatism brought from the back from the acadamy. Into the lobaratory, and facotry. Abrahm Kaplan, The New world Philosophy (London colins, 1965)
 - 7- There is nothing man desire more than a heroic life, There is nothing less common to man than heroism. Jock maritaan Introduction, True Humanism P. XII.
 8. मैसलो अब्राह्म, पर्सन और साइन्स? साइकोलॉजिस्ट, आमेर, 1955
 9. मैसलो, ए0 एच0, मोटीवशन एण्ड पर्सनाल्टी, न्यूयार्क वाइली, 1957
 10. रॉजर्स सी0 आर0, ऑन वीइग ए पर्सन, वोस्टन हापटन, मिफिन, 1961
 11. गोल्डस्टाइन, के. ह्यूमन नेचर, हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1940
 12. फ्रैंक्ल, बी0 ई0, द डॉक्टर ऑफ द सोल, बैनरम बुक्स, न्यूयार्क, 1969
 13. टैगोर, रवीन्द्रनाथ, द रिलीजन ऑफ मैन, विश्व भारती प्रकाशन, कलकत्ता, पृ0 5
 14. विवेकानन्द, कल्चर एण्ड साशलिज़्म, अद्वैत आश्रम, मायावती अल्मोड़ा, हिमालय, 1970, पृ0 प्रस्तावना
 15. देवराज एन0 के0, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, इंडज पब्लिकेशन दिल्ली, 1963 पृ0 11

डॉ0 प्रबुद्ध मिश्र

पत्र व्यवहार – 603–ए, न्यू सोहबतियाबाग,

इलाहाबाद, 211006, उ0प्र0

मोबाइल : 09415646402

E-mail : shripabhu@gmail.com

प्रगतिवादी आलोचना और प्रेमचन्द

अजय कुमार तिवारी

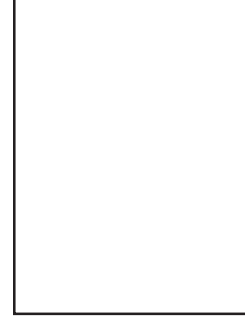
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,

राष्ट्रीय पी0जी0 कालेज

सुजानगंज, जौनपुर

मो0 : 9452961554

E-mail : ajay.dahev@gmail.com



प्रेमचन्द द्वारा 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष पद को स्वीकार करना महज खानापूर्ति नहीं थी। जब लंदन में 'The Indian Progressive Writers Association' की स्थापना हुई तो प्रेमचन्द ने इसका 'हृदय से स्वागत' किया और उसके मेनिफेस्टो का प्रकाशन 'हंस' में किया। इस मेनिफेस्टो के विषय में उन्होने लिखा कि— "उसे देखकर यह आशा है कि अगर यह सभा अपने इस नए मार्ग पर जमी रही तो साहित्य में नव युग का उदय होगा।" और यह भी कि 'हंस' भी इन्ही उद्देश्यों के लिए जारी किया गया है।'

मार्च, 1930 में प्रेमचन्द ने 'हंस' निकालना आरम्भ किया और अगस्त, 1932 से 'जागरण' नामक साहित्यिक-पत्र का प्रकाशन शुरू किया। लेखक-संपादक प्रेमचन्द अपने राजनीतिक-सामाजिक विचारों को खुलकर इसमें व्यक्त करते थे। प्रेमचन्द के अधिकतर वैचारिक लेख इन्ही पत्रिकाओं के संपादकीय के रूप में प्रकाशित हुए। मनोरंजन को वे साहित्य रचना का एक प्रधान उद्देश्य मानते हैं और 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन करते हैं 'समालोचना' के, जनवरी 1925 के अंक में प्रकाशित 'उपन्यास-एक' शीर्षक लेख में प्रेमचन्द लिखते हैं—

"साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श वह है जबकि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। Art for Art's Sake के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।"२

इसी लेख में उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की मान्यता को प्रतिपादित किया है परन्तु उसमें भी उनका झुकाव आदर्शवाद की ओर अधिक है। यथार्थवाद को वे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उनकी नजर में यथार्थवादी चरित्र की कमियों को नग्न रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। जिसका पाठकों पर गलत प्रभाव पड़ता है। वे लिखते हैं—

'Realist अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ दाब-धब्बे रहते हैं, इसलिए Realism हमारी दुर्बलताओं, हमारी विशमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। वास्तव में Realism हमको Pessimist बना देता है,

मानव चरित्रों पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।”³

प्रेमचन्द ने उपन्यास का मूल तत्त्व ‘मानव- चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना’ बताया और उसका मुख्य उद्देश्य ‘मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार’ कहा। लेकिन उन्होंने मनोरंजन को साहित्य का मूल उद्देश्य कभी घोषित नहीं किया।

मार्च-अप्रैल, 1906 की उर्दू मासिक पत्रिका उर्दू-ए-मुअल्ला में प्रकाशित उर्दू लेख ‘शरर और शहरयार’ प्रेमचन्द के आरम्भिक आलोचनात्मक लेखों में से एक है। इसमें उर्दू के दो उपन्यासकारों शरर और सरशार के उपन्यासों पर विचार करते हुए प्रेमचन्द ने उपन्यास के यथार्थवादी-शिल्प की आरम्भिक रूपरेखा प्रस्तुत कर दी है। नॉवेल की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा-

“नॉवेल उस किस्से को कहते हैं जो उस जमाने को, जिसका कि वह जिक्र कर रहा है, साफ-साफ तसवीर उतारते और उसके रीति-रिवाज, अदब-कायदे, रहन-सहन के ढंग वगैरह पर रोशनी डाले और अलौकिक घटनाओं को स्थान न दे या अगर दे तो उनका चित्रण भी इसी खूबी से करे कि जनसाधारण उनको यथार्थ समझने लगे।”⁴

सन् 1900 से लेकर 1920 तक का समय द्विवेदी युग के नाम से जना जाता है। बालकृष्ण भट्ट से शुरू हुई सच्ची समालोचना की परम्परा इस युग में रीतिवादी आग्रहों के बीच खोने लगी। देव और बिहारी की श्रेष्ठता के विवाद ने छिछली मूल्यांकनपरक तुलनात्मक आलोचना को जन्म दिया जिसमें आलोचना के मानदण्ड रस, अलंकार, काव्य-गुण आदि प्राचीन कसौटियाँ थीं। ये आलोचनाएँ समाज से कटी हुई व्यक्तिगत आग्रहों-दुराग्रहों से प्रेरित एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए लिखी जाती थीं। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस विषय में लिखा है-

द्वितीय उत्थान के भीतर समालोचना की यद्यपि बहुत कुछ उन्नति हुई पर उसका स्वरूप प्रायः रूढ़िगत ही रहा। कवियों की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अन्तःप्रकृति की छानबीन करने वाली उच्च कोटि की समालोचना का प्रारम्भ तृतीय उत्थान में जाकर हुआ।”⁵

सन् 1912 से लेकर 1917 के कुल पाँच वर्षों में प्रेमचन्द ने भारत के प्राचीन साहित्य और साहित्यकारों पर अनेक लेख उर्दू में लिखे। इनमें प्रमुख हैं- रामायण और महाभारत (1912 ई.) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (1913 ई.) कालिदास की कविता (1914 ई.) पैके अब्र (1917 ई.) (यह मेघदूत की आलोचना है।), बिहारी (1917 ई.) और केशव (जुलाई, 1917 ई.)। कवियों की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अन्तः प्रकृति की छान-बीन को शुक्लजी श्रेष्ठ आलोचना का अनिवार्य मानदण्ड मानते हैं और इसका दर्शन उनके हिन्दी गद्य के तृतीय उत्थान में मिलता है यानी सन् 1920 के बाद, लेकिन प्रेमचन्द के उपर्युक्त लेख इन्हीं आधारों पर लिखे गये हैं। इन लेखों में व्याप्त सूक्ष्म आलोचनात्मक दृष्टि और विश्लेषणपरकता कई बार इसके अनुवाद पर ही सन्देह पैदा कर देता

है। कालिदास की कविता नामक निबन्ध तो लगभग दस पृष्ठों का है और ऐसा लगता है जैसे महावीरप्रसाद द्विवेदी के कालिदास की निरंकुशता (1911 ई.) के विश्लेषण को ही बागे बढ़ाता है। कालिदास की कविता पर विचार करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है—

“कालिदास की कविता संक्षेप में कोमल भावनाओं और अलंकृत कल्पनाओं की कविता है।”⁶

प्रेमचन्द ने सम्भवतः पहली बार इसी लेख में कालिदास की तुलना शेक्सपीयर से की और इस तुलना के आधारों की ओर संकेत करते हुए लिखा—

“दोनों नाटककार हैं, दोनों मानव—हृदय के मर्मज्ञ। उनकी कल्पनाएँ उनकी बंदिशें बहुत जगहों पर लड़ गई हैं। एक ही कवि—मन प्रकृति की ओर से दोनों को मिला था। किसी चीज़ को जिस निगाह से शेक्सपीयर देखता है उसी निगाह से कालिदास भी उसे देखता है। व्यथा और शोक, निराशा और प्रतिशोध, प्रेम और वियोग में आदमी के दिल में कैसी भावनाएँ लहरें मारती हैं, इसको जिस खूबी से शेक्सपीयर ने दिखाया है; वैसे ही कालिदास ने भी शेक्सपीयर के जितने कैरेक्टर हैं वह सब एक—दूसरे से भिन्न हैं। हर एक में कोई न कोई अपनी विशेषता है। कालिदास के कैरेक्टरों की भी यही स्थिति है। शेक्सपीयर के मैकबेथ, ओथेलो, रोमियो, जूलियट की तस्वीरों को कालिदास के दुष्यंत, शकुंतला, प्रियंवदा की तस्वीरों के मुकाबले में रखने से साफ मालूम हो जाता है कि इन दोनों कवियों को मनुष्य की प्रकृति का कैसा ज्ञान था। शेक्सपीयर और कालिदास में अगर कुछ अन्तर है तो यह है कि शेक्सपीयर को मानव—चरित्र के चमत्कार दिखाने में अधिक कौशल है और कालिदास को प्रकृति के चित्रण में। शेक्सपीयर को मानव—स्वभाव के भीतर जो पहुँच थी वही कालिदास को प्रकृति के चमत्कारों में थी। इसीलिए शेक्सपीयर का साहित्य गम्भीर है और कालिदास का रंगीन।”⁷

तुलनात्मक आलोचना का यह बेहतरीन नमूना है। शुक्लजी तुलनात्मक और निर्णयात्मक आलोचना की जिन विशेषताओं को तृतीय उत्थान में तलाश रहे थे वह प्रेमचन्द के आरम्भिक उर्दू लेखों में विद्यमान था।

प्रेमचन्द के साहित्य विवेक का निर्माण उनके संवेदनशील, ईमानदार और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करने वाले व्यक्तित्व के द्वारा हुआ। न वे भारतीय काव्यशास्त्र से प्रभावित हुए थे और न ही पाश्चात्य आलोचना पद्धतियों से आक्रान्त। भारतेन्दु—साहित्य की बहुत सारी उन खूबियों, खामियों की पहचान उन्होंने 1913 ई. में ही कर ली थी जिसका बाद में शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में उल्लेख किया। भारतेन्दु के महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हुए प्रेमचन्द ने अपने निबन्ध भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र में लिखा— “गद्य में तो उन्हें मार्गदर्शक का स्थान प्राप्त है और उनके हिन्दी गद्य की प्रौढ़ता, चुलबुलापन और शुद्धता प्रशंसनीय है। जिन्दादिली बाबू हरिश्चन्द्र का विशेष गुण थी और वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होती थी।”⁸

वास्तव में प्रेमचन्द साहित्य की स्वायत्तता के पक्षधर नहीं थे। वे रचनाओं के निर्माण और मूल्यांकन में समाज की महत्वपूर्ण भूमिका को बहुत महत्व देते थे। 1936 ई. में कही गयी यह बात कि— साहित्य राजनीति

को मशाल दिखाता है कि जड़ें आरम्भिक जीवन से ही उनके भीतर विद्यमान थीं। साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रय सम्बन्धों कि उन्हें खूब पहचान थी। साहित्य की सामाजिक भूमिका पर वे बहुत जोर देते थे। प्रेमचन्द ने जुलाई, 1917 में एक लेख लिखा— केशव। इस निबन्ध में विभीषण के चरित्र—निर्माण के आधार पर उन्होंने तुलसीदास की आलोचना की और केशवदास की प्रशंसा। प्रेमचन्द को यह अच्छा नहीं लगा कि विश्वासघाती विभीषण को केवल भगवत् प्रेम के कारण तुलसीदास ने अपने साहित्य में आदरणीय स्थान दिया। उन्हें तुलसीदास के रावण के चरित्र में भी तार्किकता और विश्वसनीयता का अभाव दिखा। भक्ति के आवेग में रामचरितमानस के चरित्रों को यांत्रिक बना देना प्रेमचन्द को पसन्द नहीं आया। तुलसी की तुलना में उन्हें केशवदास के चरित्र ज्यादा यथार्थ लगे। उन्होंने लिखा कि— “रामचन्द्रिका में केशव ने राम को अवतार मानकर और खुद को उनका सच्चा भक्त बनाकर अपने को बिल्कुल बेजबान नही कर दिया है। उन्होंने तुलसीदास के मुकाबले में ज्यादा आजादी से काम लिया है और जहाँ कहीं रामचन्द्र या किसी दूसरे कैरेक्टर में उन्हें कोई दोष दिखाई पड़ा है तो उन्होंने उसे गुण बनाकर दिखाने की कोशिश की बल्कि स्पष्ट शब्दों में उस पर आपत्ति की है। तुलसीदास ने रावण के साथ अन्याय किया है और उसे एक मनस्वी, प्रतिष्ठित और स्वाभिमानी राजा के पद से गिराकर घृणा का पात्र बना दिया है, हालाँकि उसे इस तरह से अपमानित करने के बाद भी वह रावण का कोई ऐसा आचरण न दिखा सके जो इस घृणा की पुष्टि करता। रावण ने अगर कोई पाप किया तो यह कि उसने रामचन्द्र को मनुष्येतर प्राणी समझकर उनके सामने सिर नहीं झुकाया।”⁹

साहित्य की सच्ची समालोचना जन-विवेक से सम्भव है। दार्शनिक विचार उसको पुष्ट कर सकते हैं। तुलसी के तमाम प्रयासों के बावजूद जनता ने विभीषण को स्वीकार नहीं किया। इसी समझ के आधार पर प्रेमचन्द तमाम श्रद्धा के बावजूद तुलसी की कमियों की ओर संकेत करते हैं। यह परम्परा का विवेकपूर्ण मूल्यांकन है। इसमें न अन्ध श्रद्धा है और न अति-उत्साही आक्षेप।

तुलसी के अलावा किसी अन्य कवि ने भी विभीषण की खबर नहीं ली, लेकिन केशवदास ने उसकी आलोचना की। ऐसा वे अपने सामाजिक परिस्थितियों के कारण कर पाये। प्रेमचन्द ने केशवदास के सामाजिक आधारों के आलोक में उनकी रचना का मूल्यांकन करते हुए लिखा—

“केशव एक राजा के दरबारी थे, शाही दरबारों के अदब-कायदे से परिचित, देशप्रेम का महत्व समझने वाले अतः उन्होंने रामचन्द्र के बड़े बेटे लव की जबान से विभीषण को खूब खरी-खरी सुनवाई है।”¹⁰

सन् 30 का साल भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का टर्निंग प्वाइंट था। लम्बी शान्ति के बाद महात्मा गाँधी जी ने इसी वर्ष ‘सविनय अवज्ञा आन्दोलन’ का आरम्भ किया। 1925 में ‘भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी’ की स्थापना हो चुकी थी। साम्यवादी विचार भारतीय युवाओं को आकर्षित कर रहे थे। प्रेमचन्द अपने प्रेमाश्रमों की सीमा पहचान रहे थे और गाँधी से उनका मोहभंग शुरू हो गया था। जब गाँधीजी ने ‘सविनय अवज्ञा आन्दोलन’ की असफलता का सेहरा कार्यकर्ताओं पर डाला तो प्रेमचन्द ने उनकी तीखी आलोचना की। गाँधीजी ने कहा कि

कांग्रेसी नेताओं ने सत्याग्रह के सिद्धान्त को गलत तरीके से जनता तक पहुँचाया। प्रेमचन्द पूछते हैं कि जब स्वयं गाँधीजी आज भी सत्य के लिए प्रयोग ही कर रहे हैं तब उनके कार्यकर्ता इस विषय में पक्की समझ के कैसे हो सकते हैं और कार्यकर्ताओं की बुद्धि का अंदाजा नहीं लगा पाना भी तो गाँधी की ही असफलता है। 16 अप्रैल, 1934 के जागरण के संपादकीय में टेलम-ठेला शीर्षक से प्रेमचन्द ने लिखा—

“अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज को महात्मा जी भीतर की आवाज कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की सम्भावना नहीं वह बहुत भरोसे की चीज नहीं है क्योंकि उसने एक से ज्यादा अवसरों पर गलती की है। भविष्य में राजनीति को राष्ट्रहित की दृष्टि से देखना होगा।”

वे अपने लेखों द्वारा साम्यवादी विचारों के प्रति लोगों को जागरूक कर रहे थे और भारत की तात्कालीन परिस्थितियों पर मार्क्सवादी नजरिये से विचार कर रहे थे। उस समय प्रेमचन्द स्त्री-समस्या, किसान-समस्या धर्म के प्रति आलोचनात्मक रूख जमींदारों के प्रति कठोर रूख और भारत की सम्पूर्ण समस्याओं के वर्गगत आधारों की खोज मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में कर रहे थे।

चरित्र-हनन किसी राष्ट्र या व्यक्ति पर किया जाने वाला सबसे आसान लेकिन घातक हमला है। रूस के विरोधियों ने दुनिया भर में यह प्रचार कर दिया कि रूस में विवाह प्रथा उठ गयी है और वहाँ की सारी औरतों की स्थिति वेश्याओं जैसी हो गयी है। ऐसा लगता है जैसे विवाह-प्रथा के कारण ही स्त्रियाँ वेश्या बनने से बची रहीं और शोषण-मुक्त रहीं। आज भी कुछ लोगों को इस विषय में भ्रम है। परन्तु प्रेमचन्द स्त्री-समस्या की जड़ पहचानते थे वे जानते थे कि स्त्री-शोषण की जड़ स्त्रियों की आर्थिक पराधीनता है और इसको बनाये रखने में विवाह जैसी संस्था की महत्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने लिखा कि—“रूस नैतिक दृष्टि से पश्चिम की अन्य सभी उन्नत जातियों से आगे निकल गया है। वहाँ बाजारों में वेश्याएँ अपने शिकार की तलाश में चक्कर लगाती नहीं नजर आतीं, जैसा योरोप और अमेरिका के प्रायः सभी देशों में देखा जाता है। और इसका कारण है वहाँ निर्मित हुई आर्थिक समानता और स्वाधीनता। उन्होंने लिखा—

“जहाँ धन थोड़े से आदमियों के हाथ में है, वहाँ लाजिमी है कि धनवान लोग अपनी विलासिता को तृप्त करने के लिए प्रलोभनों से काम लें। उसी से बीमारियाँ भी फैलती हैं। जब किसी के पास इतना धन ही न रहे कि वह उसे विलासिता में उड़ा सके, तो वेश्यावृत्ति आप ही-आप लुप्त हो जाएगी। फिर स्त्रियों के लिए जीवन के किसी भाग में कोई रूकवाट नहीं, तो वे क्यों इस लज्जास्पद वृत्ति का आश्रय लें।

प्रेमचन्द तत्कालीन भारत की समस्त समस्याओं का समाधान साम्यवाद की स्थापना में देख रहे थे। 28 मई, 1934 को जागरण के संपादकीय में कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन शीर्षक से उन्होंने लिखा—

“साम्यवादी विचार दिन-दिन बढ़ रहे हैं और कांग्रेस में चाहे पूरे साम्यवाद ज्यादा न हों, पर ऐसा शायद ही कोई हो, जो साम्यवाद को किसी-न-किसी अंश में स्वीकार न करता हो लेकिन साम्यवाद को वाद के रूप

में मानना दूसरी बात है और उसे अपने जीवन का भोग बना लेना दूसरी बात है।" जागरण के संपादकीय में 'हवा का रूख' शीर्षक के अन्तर्गत 29 जनवरी 1934 को उन्होंने लिखा—

"कम्युनिज्म अर्थात् साम्यवाद का विरोध वही तो करता है, जो दूसरों से ज्यादा सुख भोगना चाहता है, जो दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है। जो अपने को भी दूसरों के बराबर ही समझता है, जो अपने में कोई सुरखाब का पर लगा हुआ नहीं देखता, जो समदर्शी है उसे साम्यवाद से क्यों विरोध होने लगा।"

वास्तव में प्रेमचन्द का साहित्य चिन्तन भारतीय काव्यशास्त्र के आध्यात्मवादी मानदण्डों और समाजवादी यथार्थवाद के नवीन वैज्ञानिक चिन्तन के द्वन्द्व से निर्मित हो रहा था। भारतीय आदर्शवादी चिन्तन यदि उनका संस्कार था तो समाजवादी यथार्थवाद उनकी प्रेरणा। धीरे-धीरे प्रेमचन्द समाजवादी यथार्थवाद की ओर बढ़ रहे थे जिसका प्रमाण 'गोदान' और 'कफन' तो है ही उनके कुछ अन्तिम साहित्यिक लेख भी हैं। उनको दृढ़ विश्वास हो गया था कि जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव-समाज का उद्धार नहीं हो सकता। इसलिए इसे नए सिरे से गिराकर उठाना होगा। इस सम्बन्ध में यदि कुछ लोगों को सन्देह या शंका है तो वह व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण। उस समय हिन्दी साहित्य में परम्परावादी विचारकों का बोलबाला था। वे साहित्य को मनोरंजन और भोग-विलास का साधन समझते थे। साहित्यिक संस्थाएँ भी उनके लिए धनार्जन और प्राचीन रचनाओं की तलाश का माध्यम थीं। समाज और साहित्यकारों को दिशा दिखाने वाली मूल दृष्टि इसके भीतर से गायब थी। प्रेमचन्द इस स्थिति से खिन्न थे। इसी कारण उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ का हृदय से स्वागत किया था। प्रेमचन्द रूसी साहित्य के प्रशंसक थे और वहाँ से उठने वाली हर एक आवाज का समर्थन करते थे। रूस में साहित्यिक प्रकाशनों में हो रही अभूतपूर्व वृद्धि से वे हर्षित थे और हिन्दी वालों को इससे सीखने की सलाह दे रहे थे। वे इस बात से प्रसन्न थे कि हिन्दी में रूसी साहित्य का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा है—

"एक समय था कि हिन्दी में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। पर अब जनता की रुची बदल गई है और यद्यपि अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो चोरी छीना और डाके आदि के वृत्तान्तों में आनन्द पाते हैं लेकिन साहित्य की रुचि में कुछ परिष्कार हुआ है और रूसी साहित्य से लोगों को कुछ रुचि हुई है। पूँजीवादी यथार्थवाद यथार्थ के नाम पर मानव मन की कुत्सित भावनाओं के चित्रण पर बल देता है जबकि समाजवादी यथार्थवाद उसकी उदात्त भावनाओं पर। साहित्य की नई प्रवृत्ति नामक लेख में प्रेमचन्द ने पूँजीवादी साहित्य की जमकर आलोचना की। प्रेमचन्द ने स्पष्ट लिखा कि— यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अंधकार की ओर ही केन्द्रित करें।

साहित्य का उद्देश्य के सम्बन्ध में जब सोवियत लेखकों में आपसी सहमति नहीं बनी तो वे एक मजदूर के पास गये और पूछा—तुम साहित्य क्यों पढ़ते हो? उसने कहा—जीवन की सच्ची विधि जानने के लिए। इस जवाब से सोवियत लेखकों का विवाद खत्म हो गया और प्रेमचन्द को मन माँगी मुराद मिल गयी। इस घटना पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए प्रेमचन्द ने 'साहित्य में ऊँचे विचार की आवश्यकता' नामक लेख में लिखा— साहित्य

का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम-कदम पर आने वाली कठिनाइयों का सामना कर सकें। अगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले तो ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या ?”

वे साहित्य को जीवन की आलोचना मानते थे और ऊँचे और पवित्र विचार को साहित्य की जान मानते थे। उन्होंने लिखा— “साहित्य न चित्रण का नाम है न अच्छे शब्दों को चुनकर सजा देने का न अलंकारों से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊँचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान है।”

इस प्रकार प्रेमचन्द का चिन्तन उस दिशा में बढ़ रहा था जहाँ से प्रगतिशील आलोचना की शुरुआत होनी थी। प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के पूर्व ही उन आधारों की खोज कर दी थी जिस पर समाजवादी यथार्थवाद का महल खड़ा होना था। यह बहुत अफसोस की बात है कि प्रगतिशील लेखक संघ के आरम्भिक उन्नायकों ने प्रगतिशीलता की खोज के लिए विदेशी साहित्य की ओर सिर उठाये रखा लेकिन अपने बिल्कुल पास खड़े प्रेमचन्द की ओर नहीं देखा। रामविलास शर्मा ने लिखा—प्रगतिशील लेखक संघ के प्रमुख कार्यकर्ता मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर प्रेमचन्द के इस कार्य से अपरिचित थे। प्रेमचन्द ने प्रगतिशील लेखक सम्मेलन की अध्यक्षता की, उनकी समझ में इसका भी कोई विशेष महत्व न था। महत्व था लंदन में इन लोगों द्वारा 1935 में प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन के बीजारोपण का। न्यू इंडियन लिटरेचर (1939) पत्रिका में मुल्कराज का लेख छपा था—ऑन द प्रोग्रेसिव राइटर्स मूवमेंट। इसमें लंदन वाले उस बीजारोपण का उल्लेख है, प्रेमचन्द का कहीं नाम भी नहीं है। उनके अध्यक्षीय भाषण को छापने का प्रश्न ही न था। मुल्कराज आनन्द ने अपने लेख में भारत की अन्य भाषाओं के लेखकों के नाम गिनाए हैं, इंग्लैण्ड के लेखकों की भी चर्चा की है परन्तु प्रेमचन्द का नाम उन्होंने नहीं लिया।¹²

प्रेमचन्द ने प्रगतिशील साहित्य को केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम तक सीमित रहने से रोका। केवल समस्याओं का चित्रण करने की जगह समाधान पर नजर रखने को भी कहा। सुन्दरता की कसौटी बदलने को कहा और साहित्यकारों को ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों से जुड़ने की बात की। दो और महत्वपूर्ण बात उन्होंने कही। पहली, साहित्य देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है और दूसरी, जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य मन्दिर में उसके लिए स्थान नहीं है। इस भाषण में प्रेमचन्द ने भारतीय लेखकों में कर्मशक्ति के अभाव की शिकायत की थी जो आगे चलकर प्रगतिशील लेखकों में सबसे अधिक दिखायी दी। प्रेमचन्द इन खतरों से अवगत थे इसीलिए उन्होंने भाषण के अन्त में कहा—

“ हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सज्जन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाई का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं।”¹³

प्रेमचन्द ने अपने लेखों द्वारा भरतेन्दु से चली आ रही सुधारवादी-आदर्शवादी परम्परा को प्रगतिवाद की

यथार्थवादी परम्परा से सचेत होकर मिलाया। प्रगतिशील आलोचना की नींव तैयार करने में उनके लेखों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्रगतिशील आलोचना में उठे आगामी तमाम सवाल के जबाव प्रेमचन्द के लेखन में विद्यमान थे। यदि प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के साथ उनके आलोचनात्मक लेखन को मिलाकर देखा जाए तो समाजवादी यथार्थवाद की एक भरी-पूरी तस्वीर उभर कर सामने आती है।

सन्दर्भ :-

1. प्रेमचन्द के विचार भाग-3, सम्पादक-कान्तिप्रसाद शर्मा, पृ. 222; अनमोल साहित्य, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006।
2. वही; भाग-1 पृ. 295।
3. वही; पृ. 292।
4. वही; पृ. 42।
5. रामचन्द्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र.सं.-संवत्, 1986, पृ. 290।
6. प्रेमचन्द- 'प्रेमचन्द के विचार', भाग-1, सम्पादक- कान्तिप्रसाद शर्मा, पृ. 153।
7. वही; पृ. 155।
8. वही; पृ. 129।
9. वही; पृ. 185।
10. प्रेमचन्द- 'प्रेमचन्द के विचार', भाग-1, सम्पादक-कान्तिप्रसाद शर्मा,
11. प्रेमचन्द- 'प्रेमचन्द के विचार', भाग-3, सम्पादक-कान्तिप्रसाद शर्मा,
12. प्रेमचन्द- 'प्रेमचन्द', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 152, पृ. 17।
13. प्रेमचन्द- 'प्रेमचन्द के विचार', भाग-1 सम्पादक- कान्तिप्रसाद शर्मा, पृ. 384

अजय कुमार तिवारी

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,

राष्ट्रीय पी0जी0 कालेज

सुजानगंज, जौनपुर

मो0 : 9452961554

E - mail : ajay.dahev@gmail.com

कुमारसम्भव महाकाव्य में वर्णित पर्यावरण-चिन्तन

डॉ० सन्तोष कुमार मिश्र

श्री लाल बहादुर शास्त्री

इ०का०, चायल कौशाम्बी

मो० नं०: 09415841905

E-mail ID: skmishra779@gmail.com



विगत कुछ वर्षों से विश्व-समुदाय पर्यावरण-असन्तुलन के प्रति संवेदनशील हुआ है। आज हम प्रकृति की विभीषिकाओं से यह सोचने के लिए बाध्य हो गये हैं कि प्रकृति से छेड़छाड़ मानव-अस्तित्व के लिए हानिकारक है। हम अपनी प्रगति-उड़ान में यह भूल गये कि सृष्टि जड़ और चेतन के उचित सामंजस्य पर ही टिकी है। हमने पूर्वजों के उन अनुभवों को दरकिनार कर; जिसमें वे प्रकृति को अपना सहचर मानकर अपने सुख-दुःख बाँटा करते थे, उनका अपमान ही नहीं किया, बल्कि अपने जीवन का संकट उत्पन्न कर रक्खा है।

जून 2013 में उत्तराखण्ड की त्रासदी और अब जम्मू/कश्मीर की भयावह बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाएँ हमें निरंतर चेतावनी दे रही हैं। मानव की भोगात्मक प्रवृत्ति से पर्यावरण का प्रत्येक अंग असंतुलित हुआ है। ग्लोबल वार्मिंग, ग्लोबल कूलिंग, ब्लैक होल, भूकम्प, हिमस्खलन, सुनामी आदि समस्याएँ प्रकृति के कुपित रूप का ही परिणाम है।

वस्तुतः 'परितः आवृत्यतेऽनेनेति पर्यावरणम्।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वे समस्त जैविक एवं अजैविक घटक, जो हमारे वातावरण में सन्निहित हैं, पर्यावरण कहे जाते हैं। अतः सूर्य (अग्नि भी), पृथ्वी, जल, वायु, आकाश ये सभी पर्यावरण के अंग हैं। प्राणिजगत् का जीवन पर्यावरण पर ही आधृत है। पर्यावरण के साथ-साथ ही हमारी जीवन-यात्रा पूर्ण होती है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने प्रकृति में दैवी आधान कर उसकी स्तुति की।

लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी इन प्राकृतिक तत्त्वों के प्रति पूज्य भाव एवं सहानुभूति प्रदर्शित की गयी है। कालिदास जैसा कवि तो प्रकृति में ही जीता है। उसके सभी काव्य प्राकृतिक संवेदन से सम्पृक्त हैं। मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तल, कुमारसम्भव जैसे काव्यों का कथानक तो प्रकृति के इर्द-गिर्द ही घूमता है।

कुमारसम्भव महाकाव्य में हिमालय के सुन्दर वर्णन, पार्वती, के जन्म के समय की प्रकृति, वसन्त की शोभा, विभिन्न शैल-शिखर, नदियों आदि के शोभन कथन द्वारा पर्यावरण की शुद्धता एवं प्रकृति की सुन्दरता पर बल के साथ ही तारकासुर द्वारा प्रकृति की क्षति, मसलन, नन्दन-वन की कटाई, अमरावती की दुर्दशा आदि के

वर्णन द्वारा पर्यावरणीय चिन्तन ही कवि को अभिप्रेत है।

हिमालय का प्राकृतिक सौंदर्य अप्रतिम है। वह औषधियों, रत्नों, बर्फ एवं विभिन्न नदियों का उद्गम-स्थल है। वहाँ देवदारु के चूते हुए दूध से सुगन्धित वायु बहा करती है। विशुद्ध वायु, जिसमें गंगा के झरनों के जल-कण मिले हों, जो देवदारु के वृक्षों को कँपा रहा है, तथा मोर-पंखों को विकसित कर रहा है, मृगों के अन्वेषण से थके किरातों की थकान मिटाने में पूर्णतः समर्थ है—

‘भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।

यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः।।’

वायु को साक्षात् प्राण कहा गया है।² यह जीवनदायक तत्त्व है। अतः इसका शुद्ध होना नितान्त आवश्यक है। कालिदास ने जहाँ हिमालय के रमणीय वर्णन में वायु का मनमोहक वर्णन किया, वहीं पार्वती के जन्म³, कार्तिकेय के जन्मोत्सव⁴ एवं गंधमादन पर्वत की स्वच्छ-सुगन्धित वायु⁵ के वर्णन द्वारा हमारे अंदर वास्तविक प्राण-संचरण किया है।

वस्तुतः प्राचीन समय में वायु-प्रदूषकों में प्रायः धूलि-कणों की प्रधानता थी। आँधी एवं युद्धादि के अवसर पर धूल उड़ने से वायु प्रदूषित हो जाती थी। तारकासुर के वध के लिए निकली देवसेना से उठी धूल की भयावहता का वर्णन कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में अनेकशः देखा जा सकता है।⁶

कवि वृक्ष एवं वनों के प्रति भी संवेदना रखता है। वृक्षों की कटाई से वातावरण में कार्बन डाई ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे हमारे शरीर को पर्याप्त ऑक्सीजन नहीं मिलती। अब तो केवल 8 प्रतिशत भू-भाग पर ही वन बचे हैं, जो चिन्तनीय है। वृक्षों के विनाश को देखकर कौन ऐसा होगा, जिसको क्रोध न आये। कुमार कार्तिकेय ने जब तारकासुर द्वारा विध्वंस किये गये इन्द्र के वन को देखा तो क्रोध के कारण उनकी आँखें लाल हो गयीं और भ्रुकुटियों के तन जाने से उनका मुख्य द्रुशप्रेक्ष्य हो गया—

‘सुरोद्दिशोपप्लुतमेवमेतद्धनं बलस्य द्विशतो गतश्रि।

इत्थं विचिन्त्यारूणलोचनोऽभूद्भ्रूमः दुश्प्रेयमुखः।।’

यहाँ कवि का पर्यावरण के प्रति अगाध प्रेम द्रष्टव्य है। प्रकृति एवं मानव के तादात्म्य एवं परस्पर निर्भरता से प्रभावित होकर कवियों ने उनके रूप एवं भावों को एक दूसरे पर आरोपित किया है। कालिदास को तो इसमें विलक्षण नैपुण्य हासिल है। एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

‘आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।

पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव।।’⁸

पार्वती प्रातःकालीन सूर्य-प्रभा की तरह रक्तवर्ण की साड़ी पहने हुई हैं। वे स्तनों के भार के कारण कुछ झुकी हुई चल रही हैं। ऐसा लगता है, जैसे फूलों के भार से लटकने वाली नये-नये कोमल पल्लवों से युक्त चलने वाली लता हो।

पर्यावरण में जल का भी महत्वपूर्ण स्थान है। शुद्ध जल महौषधि कहा गया है।⁹ उसमें अमरता का गुण है।¹⁰ कुमारसम्भव में कवि ने तारकासुर द्वारा मंदाकिनी के स्वर्ण कमलों को उखाड़ लेने से बचे गंदे जल¹¹ तथा नदियों को धूलि एवं मद-जल से दूषित¹² हो जाने के उल्लेख द्वारा जल-प्रदूषण पर दृष्टि डाली है। इस समय तो नदियों का जल औद्योगीकरण द्वारा अधिक दूषित हो गया है। मेरी एक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में यह भाव देखा जा सकता है-

**‘औद्योगीकरण ने
तोड़ डाली है-
कमर जिसकी,
वह जल-प्रवाहिका
अपने दुर्भाग्य पर
दो बूँद आँसू भी नहीं बहा पाती।’**

इसी प्रकार कवि ध्वनि-प्रदूषण की भयंकरता की भी चर्चा करता है। जब तारकासुर का नाश करने के लिए कुमार की सेना निकलती है, तो नगाड़े की प्रतिध्वनि आकाश में व्याप्त होते ही गर्भवती दैत्य-स्त्रियों के गर्भपात होने लगते हैं-

‘प्रमध्यमानाम्बुधिगर्जितर्जनैः सुरारिनारीगणगर्भपातनैः।

नभश्चमधूलिकुलैरिवाकुलं ररास गाढं पटहप्रतिस्वनैः।।’¹³

ऐसे ही वज्रपात की ध्वनि भी कान के पर्दे को फाड़ देने वाली है।¹⁴

प्रस्तुत महाकाव्य में सूर्य, चन्द्र, आकाश, दिशाओं आदि के सौंदर्य और निर्माल्य-कथन द्वारा कवि को पर्यावरणीय चिन्तन ही अभिप्रेत है। अंत में केवल एक श्लोक ही पर्याप्त होगा, जिससे कवि के पर्यावरण-प्रेम का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है-

‘वाता ववुः सौख्यकराः प्रसेदुराशा विधुमो हुतभुग्दिदीपे।

जलान्यभूवन्विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः।।’¹⁵

अर्थात् कार्तिकेय के जन्मोत्सव-काल में वायु सुखद चलने लगी, दिशाएँ प्रसन्न हो उठीं, अग्नि धुँ से रहित हो प्रदीप्त हो उठी, सरित्, सरोवरादि के जल निर्मल हो गये। किं बहुना आकाश भी प्रसन्न दिखाई देने लगा।

अतः यह कहा जा सकता है कि कुमारसम्भव महाकाव्य के वर्ण्य-विषय का परोक्ष उद्देश्य पर्यावरण पर ही केन्द्रित है। कवि ने तारकासुर द्वारा तहस-नहस किये गये पर्वतों, नदियों, वनों, उपवनों आदि के वर्णन द्वारा यह संदेश दिया है कि पर्यावरण को क्षति पहुँचाने वाले दैत्यों का संहार करने वाली एक अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव आवश्यक है।

सन्दर्भ स्रोत:-

- | | |
|-----------------------|--|
| 1. कुमारसम्भव, 1.15 | 2. 'प्राण इति वृत्तिमाना ध्यात्मिकोऽन उक्तः।'
—वृहदारण्यकोपनिशद्, 1.5.3 का शांकरभाष्य |
| 3. कुमारसम्भव, 1.23 | 4. वही, 11.37 |
| 5. वही, 6.46 | 6. वही, 14.34,35,36,37,38 |
| 7. वही, 13.34 | 8. वही, 3.54 |
| 9. अथर्ववेद, 6.23.1-3 | 10. 'अप्स्वन्तरमृतम्।'—ऋग्वेद, 10.23.19 |
| 11. कुमारसम्भव, 2.44 | 12. वही, 14.43 |
| 13. वही, 14.18 | 14. वही, 15.22 |
| 15. वही, 11.37 | |

डॉ० सन्तोष कुमार मिश्र

श्री लाल बहादुर शास्त्री

इ०का०, चायल कौशाम्बी

मो० नं०: 09415841905

E-mail ID: skmishra779@gmail.com

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सृष्टि प्रक्रिया

मनोज कुमार अग्रहरी (शोध छात्र)

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

मो0 : 9307818920



प्रायः विश्व का प्रत्येक धर्मग्रन्थ सृष्टि की सीमा निर्धारित करता है, जबकि सृष्टि निस्सीम है, तदनु रूप सृष्टि जिज्ञासा भी निस्सीम होगी। इस जिज्ञासा की अविच्छिन्नता एवं निस्सीम भावना बनी ही रहेगी।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सृष्टि की जिज्ञासा इस प्रकार उपलब्ध होती है— “वह कौन सा वन है और कौन सा वृक्ष, जिससे विश्वकर्मा ने इस आकाश और पृथ्वी को बनाया?”¹

इस जिज्ञासा का समाधान ब्राह्मण ग्रन्थों में ही हो जाता है, जहाँ कहा गया है कि “वह वन और वह वृक्ष ब्रह्म ही है, जिससे विश्वकर्मा ने आकाश और पृथ्वी को बनाया।” वह ब्रह्म विश्व का कारण मात्र ही नहीं, किन्तु धारण भी है।² तैत्तिरीय ब्राह्मण तो इतना तक कह देती है कि कौन जानता है और कौन उसका वर्णन कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई? क्योंकि देवता लोग भी तो सृष्टि के बाद ही जन्म लिए, इसलिए यह जानना असम्भव है कि यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई?³ तैत्तिरीय ब्राह्मण भाष्य में इसका अर्थ करते हुए आचार्य सायण कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान से सृष्टि के कारण का ज्ञान नहीं हो सकता।

“—————न तावत्प्रत्यक्षेण पश्यन्ति, तदानीं स्वयमेवाभावात् नाप्यनुमातुं शक्ताः तद्योग्ययोर्हेतुदृष्टान्तयोरभावात्।”

उपर्युक्त ग्रन्थों में जहाँ संदेह किया गया है, वहीं उसका निराकरण भी उपलब्ध होता है कि परमव्योम में निवास करने वाला परमात्मा ही सृष्टि के कारण तथा स्वरूप को जान सकता है, किन्तु इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार सृष्टि के रहस्य को देव और मनुष्य तो समझ ही नहीं सकते, क्योंकि वे स्वयं ही सृष्टि के अनन्तर आते हैं।⁴ ऋग्वेद में कहा गया है कि सृष्टि प्रक्रिया में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ थे, जिसने पृथिवी को आधार देकर सुदृढ़ किया।⁵ एक का अनेक भाव में आना और अनेक का एक सूत्र में ग्रथित होना ही विश्व सृष्टि का मूल सिद्धान्त है। वैसे तो वैदिक वाङ्मय में सृष्टि के दो सिद्धान्तों का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम सिद्धान्त विश्व को यान्त्रिक सृजन का विकास (बढ़ई द्वारा सृजन का विकास) मानता है और द्वितीय प्राकृतिक उद्भव का परिणाम मानता है।⁶ यह तो निश्चित ही है कि जिन्होंने विश्व सृजन किया, वे या तो सामान्यतः समस्त देवगण थे अथवा भिन्न-भिन्न देव लोग ही; किन्तु जहाँ निर्माण स्थल पर किसी प्रकार के विशेषज्ञ की आवश्यकता हुई है, वहाँ काष्ठ, तक्षक अथवा ऋभुओं के कार्यकुशल हाथों का उल्लेख है, जब कि विष्णु ने मनुष्यों के आवास हेतु ही तीनों लोकों में डग भरा था।⁷

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त के अनुसार विराट् पुरुष को ही विश्वोत्पत्ति का एक मात्र प्रतिनिधि माना गया

है। उपनिषदों में परम तत्व ब्रह्म की माया को सृष्टि प्रक्रिया में आदि जननी के रूप में उपन्यस्त किया गया है। इस औपनिषदिक धारा के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड माया का विराट् एवं विकसित रूप है। सांख्य दर्शन के अनुसार समस्त ब्राह्मण पुरुष और प्रकृति के संयोग से उत्पन्न हुआ है। पुरुष और प्रकृति में पूर्णतया आत्मसंवलियन के कारण यह सम्पूर्ण स्थावर जंगमात्मक विश्व विरचित हुआ है।⁸

शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि सृष्टि के आरम्भ में मात्र असत् की सत्ता थी। इसी असत् के अनन्तर सत् की उत्पत्ति हुई। इस कथन से विद्वानों में वैमत्य रहा है। उनका अभिमत है कि असत् तो निशेधात्मक शून्य की स्थिति है, जिससे किसी भी सत्ता का जन्म संभव नहीं है, इसलिए भारतीय परम्परा में सत् से ही समस्त सृष्टि की कल्पना की गयी है असत् से तो कोई सत्ता उत्पन्न ही नहीं हो सकती, क्योंकि असत् वस्तु एवं सत्ता का निषेध करता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो इस वाक्य में कोई विसंगति प्रतीत नहीं होती। असत् से सत् की उत्पत्ति का अर्थ यहां अभीष्ट ही नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थकार के कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि सृष्टि के आरम्भ में कुछ भी विद्यमान नहीं था। यही कारण है कि जो भी रचना सर्वप्रथम हुई, वह सत् स्वरूप ही हुई। अतएव असत् से सत् के उत्पन्न होने का यहाँ कथन ही अभीष्ट नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में एक मात्र ब्रह्म ही था। एक बार सृष्टि करने की इच्छा से अभिप्रेरित होकर ब्रह्मा ने तूष्णी मन से ध्यान किया। ब्रह्मा का यह तूष्णी मन ही प्रजापति का रूप था “स तूष्णी मनसा ध्यायेत्। तस्य यन्मनासीत् स प्रजापतिरभवत्।⁹” ब्राह्मण में इसे इस प्रकार कहा गया है कि असत् मन से प्रजापति का सृजन हुआ,¹⁰ अर्थात् उस तूष्णी मनस् तत्त्व से प्रजापति उत्पन्न हुआ, जो असत् स्थिति में भी विद्यमान था। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं मानना चाहिए कि असत् से प्रजापति उत्पन्न हुए। असत् सृष्टि की उस पूर्वावस्था मात्र को घोषित करता है, जिसमें कुछ भी सत्ता विद्यमान ही नहीं थी। उस स्थिति में भी ब्रह्मा का तूष्णी मनस् विद्यमान था, यद्यपि उसका कोई विकार—युक्त प्रस्फुटित अथवा व्यक्त रूप नहीं था। ब्रह्मा का तूष्णी मन ही प्रजापति रूप इस समस्त सृष्टि का जनक है। प्रायेण सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में इस भाव की पुष्टि होती है।¹¹ क्योंकि सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में बारम्बार यही कहा गया है कि प्रजापति ने अपने को अनेक रूपों में सृजित करने की इच्छा व्यक्त की अथवा सृजन की कामना की, अतः यह इच्छा रूप मनःकल्प ही ब्रह्म के मनस् तत्त्व को सृष्टिकर्ता के रूप में इंगित करता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सृष्टि प्रक्रिया के बारे में उल्लेख मिलता है कि इस ब्रह्माण्ड के पूर्व कुछ भी नहीं था, न तो आकाश था, न पृथ्वी थी, न वायु। सृष्टि रचना का मानसिक विचार सर्वप्रथम ‘असत् से ही उपजा था। ब्रह्म रूप प्रजापति की इस इच्छा के उगते ही कि ‘प्रस्फुटित हो जाऊँ’ उनका तप आरम्भ हो गया। इस तप से धूम उत्पन्न हुआ। धूम भी तत्प हुआ, जिससे अग्नि उत्पन्न हुई। फिर यह भी तप्त हुआ, जिससे ज्योति (प्रकाश—पुंज) उत्पन्न हुआ। फिर यह भी तप्त हुआ, जिससे ज्वाला उत्पन्न हुई। फिर यह भी तत्प हुआ, जिससे किरणें उत्पन्न हुई। फिर यह भी तत्प हुआ, जिससे उदारों (कूहरा) की उत्पत्ति हुई। वह पुनः तप्त हुआ और

मेघों के समान ठोस हो गया। इन मेघों से वस्ति (पृथुलकाय जलीय गुब्बारे) फूटने लगे, जो समुद्र में परिवर्तित हो गया।¹² आशय यह है कि घनीभूत मेघ परमात्मा का बस्ति स्थान था, जिसे मूत्राशय कहा गया है— “मूत्राशयो धनुर्वको बस्तिरित्यभिधीयते”¹³ जिसके फलस्वरूप स्रष्टा के वस्ति (मूत्राशय) के भेदन से समुद्र उत्पन्न हुआ, इसी कारण समुद्र का जल आज भी पीने योग्य नहीं है। तदनन्तर सब कुछ जलमग्न हो गया। इसके बाद दशहोतृ (एक प्रकार का मन्त्र) की सृष्टि हुई। यह दशहोतृ ही प्रजापति था— “तदृशहोताऽन्वसृज्यत्। प्रजापतिर्वै दशहोता, इति।”¹⁴ अपने चारों ओर सब कुल जलमग्न देखकर प्रजापति को रूलाई आ गई और वह बोला कि जब मैं कुछ भी नहीं कर सकता, कुछ भी नहीं रच सकता, तो मेरी उत्पत्ति ही क्यों हुई? प्रजापति के इसी अश्रुजल से जो कुछ समुद्र में गिरा, वह पृथिवी बन गया, जो कुछ उसने पोंछा, वह अन्तरिक्ष बन गया और जो कुछ उसने ऊपर फेंक दिया, वह द्युलोक बन गया। चूँकि प्रजापति के रोने से पृथिवी लोक और द्युलोक की रचना हुई है; इसलिए इन दोनों को ‘रोदसी’ भी कहते हैं। जो व्यक्ति इस रहस्य को जानते हैं, उनके घर में कोई रोता नहीं है। इस प्रकार तीनों लोकों को उत्पत्ति हुई, जो इस रहस्य को जानते हैं, वे तीनों लोकों में कोई कष्ट नहीं प्राप्त करते हैं।¹⁵ तदनन्तर प्रजापति ने इस पृथिवी को आधार के रूप में पाया। इस पृथिवी को आधार के रूप में प्राप्त कर उसने इच्छा की, “मैं सन्तान उत्पन्न करूँ”। ऐसी इच्छा होते ही उसका उग्र तप प्रारम्भ हो गया, जिससे उसने गर्भ धारण किया, जिसके फलस्वरूप उसके जघन भाग से असुरों की उत्पत्ति हुई।¹⁶ उसके लिए प्रजापति ने मिट्टी के पात्र में दूध निकाला। तत्पश्चात् असुर अपना शरीर त्यागकर अंधकारमय (रात्रि) हो गये। उसने पुनः इच्छा की, “मैं सन्तान उत्पन्न करूँ”। उसने कठोर तप किया। उसने गर्भ धारण किया, जिसके द्वारा उसने अपने प्रजननेन्द्रिय से जीवित प्राणियों (प्रजाः) की सृष्टि की। उनके लिए प्रजापति ने एक काष्ठ-पात्र में दूध निकाला। इसके पश्चात् उसने अपना शरीर त्यागकर चन्द्रिका बन गया।¹⁷ प्रजापति ने पुनः इच्छा की, “मैं सन्तान उत्पन्न करूँ, उसने कठोर तप किया। उसने गर्भ धारण किया, जिसके द्वारा उसने अपने बाहु-कक्ष से ऋतुओं को उत्पन्न किया। उसने ऋतुओं के लिए रजत के पात्र में घृत निकाला। तत्पश्चात् वह अपना शरीर त्यागकर रात और दिन का सन्धि-काल हो गया।¹⁸ इसके बाद प्रजापति पुनः सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से अपने मुख से देवताओं को उत्पन्न किया। उसने उनके लिए सोने के पात्र में दूध निकाला। तत्पश्चात् वह अपना शरीर त्यागकर दिन हो गया।¹⁹ यह प्रक्रिया प्रजापति का दोहन है। जो इसे जानता है, वह सन्तान का दोहन करता है—

“एते वै प्रजापतेर्दोहाः। य एवं वेद। दुह एव प्रजाः, इति।”²⁰

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, ‘दिवा हमारे निकट आई है, यह उक्ति देवताओं के देवतत्व का द्योतक है, जो व्यक्ति इस तथ्य को जानता है, वह देवताओं को प्राप्त करता है।²¹ यही दिवा दिन और रात्रि की उत्पत्ति का कारण है, जो इस रहस्य को जानता है, वह दिन और रात में कोई कष्ट नहीं पाता।²²

तदनन्तर असत् से मन (आत्मा, मनस्) उत्पन्न हुआ और मन से प्रजापति की सृष्टि हुई व प्रजापति ने सन्तानों (प्रजाओं) की सृष्टि की। इस सृष्टि में जो कुछ भी है वह सभी मन पर ही आधारित है। इसलिए ही सङ्कल्पित अर्थ वाला यह मन श्वोवस्यस्’ नामक ब्रह्म है।²³

समकालीन संस्कृत कविता में स्त्री विमर्श

स्मृति शुक्ला

प्रवक्ता संस्कृत

राजकीय बालिका इण्टर कालेज,

सिराथू, कौशाम्बी

मो0 : 8574823201

E-mail : shuklasmriti978@yahoo.in



नारी विमर्श—

स्त्री सदा से ही सृष्टि व समाज का महत्त्वपूर्ण अंग रही है, फलतः इसे साहित्य में भी स्थान मिलना स्वाभाविक है। जहाँ तक सम्पूर्ण संस्कृत— वाङ्मय का आकलन करें तो पायेंगे कि इसमें नारी का एक प्रतिष्ठित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। वैदिक साहित्य, उपनिषत् साहित्य, पौराणिक व लौकिक साहित्य जैसे महाकाव्य, कथा, उपन्यास, नाटकादि में नारी—प्रशस्ति प्राप्त होती है। न केवल वेदाध्ययन में अपितु यज्ञादि कर्मों में भी नारी की उपस्थिति विशेष महत्त्व रखती थी। वेदों में 'उषस् सूक्त' के माध्यम से जहाँ एक ओर नारी की स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया है वहीं उपनिषदों में गार्गी, मैत्रेयी इत्यादि विदुशी नारियों के रूप में स्त्री—प्रतिष्ठा की स्थापना की गई है। स्मृति ग्रन्थों में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' का समुद्घोष सम्पूर्ण विश्व को चमत्कृत कर देता है। नारी—प्रशस्ति की यह श्रृंखला रामायण, महाभारत, रघुवंशम्, मालविकाग्निमित्रम् आदि ग्रन्थों द्वारा आगे बढ़ती है। किन्तु इसके ही समानान्तर 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' कहते हुए पारम्परिक संस्कृत कविता में नारी की स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध भी लगा दिया गया। रामायण व महाभारत में जनकात्मजा व द्रुपदसुता के प्रति हुए व्यवहारों ने नारी की विडम्बनात्मक पीड़ापरक स्थितियों को भी स्पष्ट कर दिया। शनैः शनैः बदलते युगों व शताब्दियों में समस्त विश्व के विविध घटनाक्रमों एवं हलचलों का भी प्रभाव स्त्री के अस्तित्व पर पड़ा पर प्रायः उसकी पीड़ाएँ अनभिव्यक्त ही रहीं। परम्परागतशृंगार और रोमांस से हटकर मानवीय सुख—दुःख आशा—निराशा विशेषतः पुरुष—प्रधान रूढ़िवादी भारतीय समाज में नारी की दयनीय दशा एवं जीवन संघर्ष का चित्रण आधुनिक—संस्कृत—कविता करती है।

आधुनिक—संस्कृत—कविता के प्रारम्भिक काल में जो सामाजिक परिदृश्य था उसमें स्त्री की स्थिति बहुत उन्नत नहीं कही जा सकती। बाल—विवाह और सती—प्रथा जैसी कुरीतियाँ सीधे तौर पर स्त्रियों के अस्तित्व एवं जीवन जीने के अधिकार पर हस्तक्षेप कर रही थी। विडम्बना यह भी थी कि धर्मान्ध भारतीय समाज द्वारा इसका पुरजोर समर्थन भी किया जाता था। किन्तु तार्किक एवं वैज्ञानिक शिक्षा से सम्पन्न नवीन जागरण के पक्षधर

कतिपय भारतीय समाज सुधारकों ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, राजाराम मोहन राय, जगन्नाथ शंकर सेठ, भाऊ दाजी, विष्णु शास्त्री पण्डित, करसोन दास मूलजी, डी०के० माटवे, वीरसलिम पंतुल इत्यादि के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1829ई० में सती-प्रथा विरोधी कानून एवं 1856ई० में 'विधवा पुनर्विवाह अधिनियम' द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने का यथासम्भव प्रयास किया गया। ये समाज-सुधारक जहाँ स्त्रियों की दशा में उन्नति हेतु प्रयत्न कर रहे थे वहीं संस्कृत-साहित्यकारों ने भी इस दिशा में प्रयास किये। संस्कृत-साहित्य तो प्रारम्भ से ही स्त्री-सम्मान का उद्घोषक रहा है, अतएव मानवता को दग्ध करने वाली इस सती-प्रथा की अमानवीय धर्मप्रेरित रूढ़ि की हिमायत करने वालों पर कटाक्षपूर्वक आक्रोशात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी कहते हैं-

यत्र नार्यस्तु दहन्ते रमन्ते तत्र देवता।

अन्नं जलं बलं राष्ट्रे सतीदाहेन जायते।।

एक ओर जहाँ इस प्रकार के आक्षेपात्मक स्वर द्वारा इस कुप्रथा का विरोध किया गया है वही दूसरी ओर 'विधवाओं' की दुर्दशा सुधारने हेतु विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देते हुए आचार्य रामावतार शर्मा जी कहते हैं-

समैथुने विवाहे तु विधवा कामतः पतिम्।

पुनर्द्वितीयं कुर्वीत न तु गर्भादिपातनम्।।

(श्री रामावतारशर्मनिबन्धावली, पृष्ठ 265)

पति-निधन पर विधवा का जीवन निष्प्रयोजन नहीं है और दैवप्रदत्त प्राणों के हरण का अधिकार किसी को भी नहीं है। अतएव नारी के अस्तित्व की नाषिका सती-प्रथा के विरोधपूर्वक विधवा-विवाह का समर्थन न केवल समाज सुधारकों अपितु संस्कृत के आधुनिक-कालीन काव्यकारों द्वारा भी किया गया।

स्त्री-विमर्श के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक-संस्कृत-कविता, पारम्परिक-संस्कृत-कविता की अपेक्षा नितान्त भिन्न है। 'या देवी सर्वभूतेषु'..... कहते हुए पारम्परिक-संस्कृत-साहित्य जहाँ एक ओर स्त्री को अर्चनीय एवं उपासनीय मानता है वहीं दूसरी ओर स्त्री के अंग-प्रत्यंग के अनौचित्यपूर्ण वर्णन एवं भोग्या के रूप में वर्णित करता है। यहाँ तक कि काव्यशास्त्रीय व नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी इसी उपभोग का नायिका भेद का आधार भी नारी के प्रति दुराव का ही बोध कराते हैं। पारम्परिक संस्कृत-कविता का अधिकांश भाग स्त्री को पुरुषावलम्बी एवं सम्भोग्या के रूप में ही उल्लिखित करता रहा है। आधुनिक-संस्कृत-कविता में स्थिति थोड़ी पृथक् है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि पिछली कुछ शताब्दियों में स्त्री की सामाजिक स्थिति एवं जीवन शैली में क्रान्तिकारी परिवर्तन आए हैं, अतएव साहित्य में भी यह परिवर्तन परिलक्षित होना स्वाभाविक ही है। आधुनिक काल की नारी पुरुषों के ही समान सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत है। जीवन-वृत्ति के लिए सचेष्ट वह कहीं भी आने-जाने को स्वतन्त्र है, वह स्वावलम्बी है और कदाचित् स्वच्छन्द भी, तथापि नैतिक पतन की पराकाष्ठा के

कारण स्त्री के अस्तित्व का संघर्ष और भी अधिक बढ़ गया है। वर्तमान काल में नारी की स्थिति द्विविध रूपों में है— एक ओर तो वह स्वतन्त्र है किन्तु वहीं दूसरी ओर अनेकानेक प्रपीडनों से पीड़ित भी है। अपसंस्कृति का बढ़ता दुष्प्रभाव और नैतिक मूल्यों का ह्रास अथवा संवेदनहीनता की पराकाष्ठा— कारण चाहे जो भी हो इन सबके कारण हो रही दुरवस्था व सन्त्रास की दंश स्त्री ही झेल रही है। तथापि आशावादी पक्ष यह है कि आधुनिक—संस्कृत—कवियों का एक वर्ग स्त्री की इस पीड़ा को स्वर देकर जनसामान्य के चित्त को उद्वेलित करने का कार्य कर रहा है। इन कवियों ने न सिर्फ स्त्री पीड़ा को स्वर दिया है अपितु उसकी एवं उसके स्वाभिमान के संरक्षण हेतु भी अपनी लेखनी को प्रवृत्त किया है।

आधुनिक समाज में नारी की स्थिति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब आधुनिक संस्कृत कविता में है। 21वीं शताब्दी में जहाँ एक ओर नारी आकाश की उच्चता का भी स्पर्ष कर चुकी है वहीं विडम्बनापरक स्थिति यह है कि आज भी यौतुकलोभियों द्वारा नववधुएँ प्रताड़ित की जा रही हैं। इसी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए आधुनिक कवि हरिदत्त शर्मा अपनी कविता 'यौतुकहतकम्' नामक कविता में लिखते हैं कि इस नवीन युग में आज भी सीता अग्नि—परीक्षा दे रही हैं, उपालम्भनात्मक स्वर में वे कहते हैं कि धिक्कार है! 20वीं शताब्दी में भी नववधुएँ जलाई जा रही हैं—

नवयुगे नवमानवा रे! का दशेयं सुविपरीता?

पतति दहनेऽद्यापि सीता

ज्वलति दहनेऽद्यापि सीता।.....

वर्धते धनचयस्पर्धा चार्थमनुधावति समाजः।

भिक्षते स सुसभ्यनव्यो याचते स हि राजराजः।।

काऽधुनिकता चोन्नतिः का धिगिति विंशशतीह वीता?

ज्वलति दहनेऽद्यापि सीता.....

इस कविता की भावपूर्ण पंक्तियाँ किसी सामान्य पाठक को भी अश्रु—प्लावित कर सकती हैं, ऐसा शाधकर्त्री का व्यक्तिगत अनुभव रहा है। 'नारी— अस्तित्व—नाशिका' इस यौतुक प्रथा के विरुद्ध अनेकानेक संस्कृत कवियों ने अपना रोष व शोक प्रकट किया है। इन कुप्रथाओं के विरुद्ध आधुनिक संस्कृत—कवियों की भावुकता समाज—सुधारक व उपदेशक के समान है। यद्यपि दैनन्दिन घटित होती इन दुष्प्रथाओं का मूलोच्छेदन सामान्य कार्य नहीं है तथापि आधुनिक—संस्कृत—कवियों ने अपनी काव्य—पंक्तियों के द्वारा इन कुन्द हो चुकी निरर्थक रूढ़ियों के पोषकों पर सीधा प्रहार किया है। सहृदयों के अन्तस् को वेदना व टीस से परिपूर्ण करती गीतकार श्रीनिवास रथ महोदय की ये काव्य पंक्तियाँ कवि की अकुलाहट को व्यक्त करने के साथ—साथ मर्म का भेदन भी करती हैं:—

जननी-जनक-सखीजन-चिन्ता-सजल-नयन-सम्प्रेषित-दुहिता ।

श्वसुर-सदन-लोभानल-दग्धा-जीवितेश-निलयं निवेशिता ।

किमिति सपदि नववधू विशसनं, दैनन्दिनी-प्रथा ।

विपत्रितेयं जीवनलिका, दूरे कुसुम कथा..... ।¹

इसी प्रकार 'यौतुकः पाप-संचयः' नामक गीतकथा के माध्यम से डॉ० एस०एल० उनियाल जी उपदेशक के रूप में दहेज-प्रथा का विरोध करते हुए लिखते हैं-

मूर्खा लुब्धाश्च ते लोके, ये हि याचन्ति यौतुकम् ।

ते एव ज्ञानिनः सन्ति, नहि याचन्ति यौतुकम् ।।17।।

सुखमिच्छन्ति लोके ये, नहि याचन्ति यौतुकम् ।

यौतुकं हि यतो लोके, पापिनां खलु मूलकम् ।।18।।²

वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी-कृत दाय (यौत) 'यौतुकदानवः' नामक कविताएँ भी दहेज की दुष्प्रथा के प्रति विरोध प्रकट करती है ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी भी सोत्प्रास शैली में इस प्रथा के विरुद्ध अपने 'कान्यकुब्जलीलालमृतम्' नामक कृति में अपनी अभिव्यक्ति देते हैं।³ उल्लेखनीय है कि अपने अस्तित्व एवं अस्मिता के लिये संघर्ष करती स्त्री की अनभिव्यक्त पीड़ा को प्रायः संस्कृत कवियों ने अपना स्वर दिया है ।

आधुनिक-संस्कृत-कविता की स्त्री-विमर्श का एक अन्य पक्ष है- परम्परा से आई उन मान्यताओं का विरोध जो स्त्री को संस्कार-निर्वहन के अधिकार से भी वंचित करता है। प्रवेश सक्सेना अपनी कविता 'नास्तिमेऽधिकारः' में परम्परा पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए लिखती हैं कि माता के उदर से जन्म लेने और माता की सेवा-सुश्रुषा करते रहने पर भी माता की मृत्यु के अनन्तर दाहकर्म का अधिकार पुत्री के अंश में नहीं आया-

परमद्य यदा त्वम् । माम् परित्यज्य । अपरे लोके गतासि ।

अहं जीवनसंघर्षे । एकाकिनी । तिष्ठामि । तव वियोगे । उत्कण्ठिता च !

एकं चान्यद् । महद् दुःखम् । वर्तते !

तव चितादाहकर्मणः । पश्चाच्च । श्राद्धकर्मणः (कथम्) । नास्ति मेऽधिकारः ।

(अनुभूतिः पृष्ठ 19-20, प्रवेश सक्सेना)

वस्तुतः 'स्त्री-विमर्श' एक सामाजिक क्रान्ति का भी आवाहन करता है। स्त्री का स्वतन्त्र अथवा अन्य रूप में स्वच्छन्द-चिन्तन और युगों-युगों के बाध्यतापरक बन्धन से मुक्ति के लिए मिथ्या मर्यादाओं के बन्धन को उतार कर रख देने की मानसिकता 'स्त्री-विमर्श' की आधुनिकतम स्वरूप उद्घाटित करती है-

महिलावर्षस्यावसाने/भवत्याम् एकस्याम्/गोष्ठ्याम्/एका महिला/ खेदपूर्वकमवदत्/ सर्वे सम्बन्धाः/धर्मेण भवितुम् शक्नुवन्ति/ (यथा धर्मभ्राता, धर्मभगिनी)/तर्हि वयम् धर्मपतिम्/कर्तुं कथं न शक्नुमः/ अस्मिन् विषये तु/विचार एव न कृतः/अस्मिन् महिला वर्षे!

(अनुभूतिः, पृ0 23-24)

आधुनिक संस्कृत कविता में 'स्त्री-विमर्श' के रूप में जहाँ एक ओर नारी-प्रपीड़न का पक्ष उद्घाटित होता है वहीं दूसरी ओर वर्जनाओं के जगत् का पुरजोर प्रतिरोध करती स्वच्छन्द एवं क्रान्तिमती नारी का भी चित्रण प्राप्त होता है। समसामयिक युग यदि स्त्री की उन्नति का साक्षी है तो प्रतिपल नारी के साथ हो रहे अनेकानेक पाशविक अत्याचारों का भी साक्षी बन रह रहा है। कितनी दुःखद स्थिति है कि प्रतिक्षण नारी शीलहरण का दंश झेल रही है। प्रतिदिन समाचार-पत्रों में इस प्रकार की दुरवस्थाओं का उल्लेख संवेदनशील संस्कृत-कवियों के अन्तस् पर आघात पहुँचाता है जो काव्य-पंक्तियों के रूप में उद्घाटित होता है। श्री रमापति महोदय की कविता 'कीदृषी दुःशीलता' इसी वेदना की अभिव्यक्ति है-

हा! कीदृषी दुःशीलता/वर्षस्याभिनवप्रभातम्!/पत्न्या चायं नीतम् /सेवकेन चामृतप्रभातम्/मत्तः पूर्वं अत्र/पालितशुना गृहीतम् किंचिद् भ्रंशितंच/तेनाहं क्रुद्धः शीघ्रमाहृत्य वाचयन्नचिन्तयम्/कथमनेन/पंचवर्षीयकन्याबलात्कारवृत्तं भ्रंशितम्?/अथ च मया ताडितोऽपि गर्जति?/मन्ये मम मनुष्यत्वमुपहसति/यत्पशूनामप्यसंभवेन कर्मणा/ बलात्कारेण धन्यमिदं भारतवर्षम्/शुभं स्यादभिनवं वर्षम्।⁴

16 दिसम्बर 2012 को दिल्ली की शर्मनाक घटना पर भी संस्कृत कविताएँ ज्ञात हुई हैं, जिनमें युवा कवयित्री संस्कृता मिश्रा (स्व0 वीरभद्र मिश्र जी की सुपुत्री) की एक कविता मेरे समक्ष आई, किन्तु अप्रकाशित होने के कारण यहाँ उल्लेख नहीं कर रही हूँ।

आज प्रत्येक ओर महिला सशक्तीकरण का शोर है फिर भी वर्तमान समय में स्त्री प्रतिक्षण अपने सम्मान-संरक्षण हेतु भयभीत रहती है। प्रतिपल जीर्ण-शीर्ण किये जाते सम्मान से आहत स्त्री की दुःसह वेदना को अभिव्यक्त करते हुए महाराजदीन पाण्डेय जी कहते हैं-

नीताप्रधर्षमार्ताऽऽरक्षिषु निवेदनीयं

क्षामाक्षरैर्लपन्ती कविता कदाचिदेशा।।⁵

पाण्डेय जी इन पंक्तियों में कविता के व्याज से विनष्ट किये जाते शील वाली स्त्री की मर्मन्तक पीड़ा को व्यक्त करने के साथ-साथ समाज की उस संवेदनहीनता की ओर भी संकेत करते हैं जो सहानुभूति के भाव को दबा देती है। उनकी पीड़ा है कि स्त्री अभया नहीं हो पाती, पूर्व में भी वह रावण दुःशासन के द्वारा प्रताड़ित होती रही और आज भी-

परस्मै चरन्ती सनद् भीतभीता।

यथाप्राग्विपन्नाद्यकालेऽपि सीता।।⁶

भारतीय नारी की विवशता, पुरुष के द्वारा किये जाने वाले छद्म और कभी न अन्त होने वाली व्यथा को कवि परमानन्द शास्त्री 'कौन्तेयम्' नामक खण्डकाव्य में प्रस्तुत करते हैं—

देवासुरनगरगन्धर्वदनुजजातीनां,
निर्वेशिष्य सा समा प्रकृतिराद्यन्ता ।
प्रागभवत् सम्प्रति भवति भविष्यति भूयो,
नव नवा हि नारीशोषणकथा अनन्ता ।।⁷

नारी मनोविज्ञान, नारी के आमसंघर्ष व वेदना की अनुभूति की दृष्टि से परमानन्द शास्त्री का 'मन्थन' (2001) नामक खण्डकाव्य भी उल्लेखनीय है।

आधुनिक-संस्कृत-कविता के स्त्री-विमर्श का सुखद पक्ष यही है कि प्रायः पुरुष कवियों ने स्त्री-संवेदना को मूर्त रूप प्रदान करने में अभूतपूर्व योगदान दिया है। स्त्री-संवेदना के मर्मज्ञ कवियों द्वारा स्त्री-संवेदना को सक्षम स्वर प्रदान किया गया है। स्त्री द्वारा भोगी गयी असह्य वेदना की भावभूमि पर स्थित होकर ही हर्षदेव माधव जी की कविता 'शकुन्तलाया उक्तिः' उस परम्परा को उपालम्भन देती है जो स्त्री के अंश में केवल पीड़ा, त्याग एवं अश्रुओं का संसार स्वीकार करती है। असह्य पीड़ाओं को सहन करने के पश्चात् भी यह रिक्तहस्ता ही रही— वयं स्त्रियः/विधवा नेत्रजलनिर्मिताः/वयं स्त्रियः/परमेश्वर निष्वासरचिताः।/वयं नार्यः/परमेश्वरेण निर्मितं दुःखं भोक्तुमेव सृष्टाः! /किन्तु प्रश्नमेकं पृच्छामि/यद्/वनवल्लीपालनासमर्थेन भवता/कस्माद्/ वनाद् उन्मूलिता लता?/कस्माद्/वनाद् उन्मूलिता लता?⁸

पूरी कविता पढ़ने के अनन्तर अन्तिम पंक्ति तक आते-आते अन्तस् तक पहुँची टीस मर्म को तार-तार कर देती हैं। आधुनिक-संस्कृत-कवियों ने स्त्रियों के सन्नास व उनके सामाजिक कौटुम्बिक त्रास को भी अभिव्यक्ति दी है। 'स्नानगृहे' नामक कविता में स्त्री की अनकही पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए हर्षदेव माधव कृत इन पंक्तियों में संवेदना का पराकाष्ठा है—

स्नानगृहं गत्वा/गृहक्लेशं श्रान्ता वधूः/निःशब्दं रोदिति/तदा/ स्नानगृहं/तस्याः पितृगृहं भवति।⁹ (बुद्धस्यभिक्षापात्रे, 15)

स्त्री-वेदना की इस उच्च स्तर की अनुभूति कदाचित् संस्कृत-कविता में ही नहीं अपितु अन्य भाषाओं के साहित्य में भी अभूतपूर्व है। भारत में तो स्त्रियाँ सदैव ही संत्रस्त होती रही हैं। कभी पुं नामक नरक से बचने हेतु पुत्र की अभिलाशा में वे माँ के गर्भ में ही अन्तिम साँस ले लेती हैं तो कभी यौतुक-दानव उनके स्वप्नों को जीर्ण-शीर्ण कर देता है, कभी अकारण ही आजीवन सन्ताप सहती हैं तो कभी जीवित ही अग्नि में फेंक दी जाती हैं। कभी अनाचारों से पीड़ित अपनी व्यथा को अभिव्यक्त किये बिना ही इस जगत् से विदा ले लेती हैं। सत्य यही है कि यज्ञ कोई भी हो, आहुति में स्त्री ही डाली जाती है। स्त्री द्वारा सहन की गई अनेकानेक पीड़ाओं का कहीं अन्त नहीं, इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए आधुनिक-संस्कृत-कवि इच्छाराम द्विवेदी 'प्रणव' जी लिखते हैं—

रज्ज्वांषवद्ध्वा स्वगलमथवा रेलमार्गे पतित्वा,
काञ्चिद् बाला गरलगुटिकां भक्षयित्वा म्रियन्ते ।
अग्नौ दग्ध्वा सुललितं तनुं सागरे वा सरित्सु
ता मज्जित्वा सकलजनतापापामुन्मज्जयन्ति ॥

(दूतप्रतिवचनम् 35/29)¹⁰

अत्याधुनिक तकनीकि के माध्यम से भ्रूणान्तर्गत शिशु का परीक्षण करवाकर कन्या ज्ञात होते ही धरा पर उसके आगमन के अवरोध का निर्णय किसी अन्य द्वारा नहीं अपितु माता-पिता द्वारा ही कर लिया जाता है। अजन्मी बालिका के रूप में नारी की इस अनकही पीड़ा की टीस को अभिव्यक्त करते हुए आधुनिका कवियित्री प्रवेश सक्सेना कहती हैं-

अद्यमातुरंचलस्यदुग्धं विषीकशतममताप्रदूषितालोचनयोःजलं च शुश्रुकम् ।तदैव सा विवश तथा स्वसुखहेतोः वा
स्वकन्याम् हन्त्येव ताभ्यामेव हस्ताभ्याम् याभ्यां लालयेत् ।

अन्यत्र चडभौ पितरौ गर्भस्थायाः कन्यायाः हननं कृतवाअपि सभ्यौ / सम्मानितौ भवतः एव / अजातायाः कन्यायाः / रुदनं
चीत्कारम् वा / श्रौतुम तौ न समर्थौ ॥¹¹

नारी की इस त्रासदी का कहीं अन्त नहीं है और सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि अब संरक्षण का दायित्व ग्रहण करने वाला ही भक्षक बन गया है। कवियित्री नलिनी शुक्ला इस व्यथा को अपनी कविता 'कियती व्यथा जगत्परिवृत्ते' में व्यक्त करती हैं-

नष्टं शीलमहो! नहि नीतिः
नैवाचार-विचारे प्रीतिः
रक्षक एव भक्षकः सम्प्रति
किं कथयामि? केन वा? कं प्रति?
स्वार्थ, छलं, वंचनं दृश्ये
कियती व्यथा जगत्परिवृत्ते.....
वैधव्यात् काचिद् हृदि भग्ना,
यौतुकशापे कापि निमग्ना
क्वापि परिणयोच्छेदोद्भेदः
क्वापि कलहविषशल्योद्वेगः
सौहार्दस्मितिकोषनिवृत्ते

कियती व्यथा जगत्परिवृत्ते.....¹²

असुरक्षा की यह पीड़ा नारी के अंश में युगों-युगों से विद्यमान है तथापि दुविधा यह है कि इस पीड़ा को व्यक्त करना भी उसके अधिकार में नहीं है।

इतनी दीर्घ अवधि से अनेकानेक जटिल आदर्शों के बोझ के नीचे दबी नारी का व्यक्तिगत अस्तित्व तो कभी प्रकट ही नहीं हुआ। वह कभी देवी बनाकर पूजी गई तो कभी पद्दलित की गई; किन्तु वर्तमानकाल के संस्कृत-साहित्य में स्थिति नितान्त भिन्न है। आज जहाँ एक ओर, शंकरदेव अवतारे, उमाकान्त शुक्ल, रामकरण शर्मा इत्यादि कवियों ने नारी के आदर्शमय पारम्परिक स्वरूप में आधुनिक स्वरूप का समावेश सामंजस्य के साथ किया है वहीं हर्षदेव माधव, बनमाली बिशवाल, इच्छाराम द्विवेदी इत्यादि काव्यकारों की कविता में स्त्री उच्छ्रंखल व स्वच्छन्द रूप में चित्रित है। वर्तमान परिवेश में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संघर्ष करती नारी का स्वच्छन्द होना स्वाभाविक ही है। अब स्त्री पति-वियोग में मलिनवसना एकवेणीव्रता, ऊष्ण श्वांसोच्छ्वासों से रक्त ओष्ठ वाली और पति-आगमन की प्रतीक्षा में दिन-व्यतीत करने वाली नहीं है, अब आधुनिक नारी अपने मनोनुकूल कार्यों में संलग्न रहती है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना यक्षिणी या त्वदीया
टी०वी० मध्ये चपलनयना तारिका सा दृश्यते।
कान्ते स्वीं. विमलवटिकं फेनिलं लिम्पमाना,
स्नात्युन्मुक्ता भवति विविधक्रय्यवस्तु-प्रचारे।।

(दूतप्रतिवचनम्-25/9)¹³

नारी का यह उच्छ्रंखल स्वरूप चरित्रहीनता का बोध नहीं है अपितु उन अत्याचारों का प्रतिकार है जिसने स्त्री को विवशा बना दिया। वह स्वच्छन्द है, उच्छ्रंखल है तथापि आत्म-सम्मान व आत्माभिमान का भाव कभी-भी तिरोहित नहीं हुआ है। महारानी लक्ष्मीबाई, इन्दिरा गाँधी इत्यादि स्वतन्त्र, स्वाभिमानी नारियों के प्रतिनिधि के रूप में उभरती हैं। तथापि नारी-चेतना के नाम पर कपितय कवियों ने कुछ अतिवादी भावों को भी प्रकट किया है, जैसा कि बनमाली-बिशवाल-कृत 'नारी-नारायणी' नामक काव्य में लिखित हैं।¹⁴ वस्तुतः स्वेच्छाचारिणी होते हुए भी नारी अपनी गरिमा को लेकर सजग है। स्त्री-विमर्श के नाम पर भंग होती सीमाओं को लेकर भी आधुनिक काल के संस्कृत कवियों ने चिन्ता अभिव्यक्त की है—

नारीदलितविमर्श का वा धुता न वेला।

श्रीलाश्लीलचिन्हं कल्प्यं किमपि नवीनम्।¹⁵

स्त्री-विमर्श के क्षेत्र में इस प्रकार का उदात्त चिन्तन आधुनिक-संस्कृत-कविता का अपना वैशिष्ट्य हैं, जो अन्य भाषाओं के साहित्य-विमर्शों में अप्राप्य है। आधुनिक-संस्कृत-कविता में स्त्री-विमर्श मर्यादित स्वरूप में ही स्पृहणीय है। निस्सन्देह अतिवादी चिन्तन सदैव परिहरणीय ही होते हैं, वह चाहे आदर्श का हो अथवा कटु यथार्थ का। शंकरदेव अवतारे-कृत 'नारीगीतम्', पण्डित विष्णुकान्त शुक्ल-कृत 'स्फाटिकी माला' आचार्य

रामकरण शर्मा—कृत 'सर्वगन्धा' व 'सिनीवाली' में संकलित कतिपय गीतियों में विविध भावभूमियों और संदर्भों में नारी के गरिमामय आदर्श स्वरूप का स्तवन किया गया है। यह भी आधुनिक संस्कृत कविता के स्त्री-विमर्श का एक पक्ष हैं वहीं दूसरी ओर रेडलाइट एरिया की 'सेक्सवर्कर्स' को भी आधुनिक कवि की लेखनी आकृति देती है, जिसमें उसकी वेदना की भावभूमि पर स्थापित होकर एक पुरुष कवि ने उपेक्षित पीड़ा को अभिव्यक्ति दी है—

केनापि रामेण त्यक्ता,
केनापि नलेन निर्वासिता
केनापि दुश्यन्तेन वंचिता
केनापि हरिश्चन्द्रेण विसृष्टा.....
वासना—यूपे बद्धा सा
दूयते किन्तु न हन्यते।¹⁶

पुष्पा दीक्षित, नलिनी शुक्ला, हर्षदा जानी इत्यादि कवियत्रियों की उपस्थिति में भी संस्कृत कवियों द्वारा नारी के मनोभावों को मूर्तरूप प्रदान करना आधुनिक-संस्कृत-कविता के स्त्री-विमर्श का उत्कृष्ट आयाम है। स्त्री-विमर्श के प्रसंग में विष्णुदत्त शुक्ल-कृत 'गंगासागरीयम्' काव्य भी उल्लेखनीय है जिसमें कन्या गौं और पिता हिमवान् के विवाद द्वारा आधुनिक-नारी-स्वातन्त्र्य के विचारों का पोषण किया गया है।¹⁷

रेवा प्रसाद द्विवेदी-कृत 'सीताचरितम्' एवं अभिराज राजेन्द्र मिश्र-प्रणीत 'जानकीजीवनम्' भी आधुनिक-संस्कृत-काव्य में नारी-चेतना के नवीन भाव- बोध के दृष्टिकोण से महत्त्व के हैं। यद्यपि ये महाकाव्य विधा की रचनाएँ हैं तथापि सीता-निर्वासन के प्रसंग के द्वारा स्त्री के विवशता व त्यागमयत्त्व स्वरूप का उसके स्वाभिमानी स्वरूप द्वारा निगरण कराकर स्त्री-विमर्श की स्वस्थ परम्परा का विकास किया गया है। सीता-परित्याग का निर्णय केवल राम के ही अधीन नहीं है। आज की सीता पतिपदानुरागिणी एवं विवश होकर पति के सम्मान-वर्धन हेतु निर्वासन के निर्णय को शान्तभाव से स्वीकार नहीं करती अपितु केवल लोकानुरंजन हेतु पत्नी के परित्याग का निर्णय सुनाने वाले राम का स्वयं ही त्याग करती है। यह वर्तमान परिवेश में स्फुरित स्त्री-स्वाभिमान की चरम-परिणति है जिसका प्रतिबिम्बन आधुनिक संस्कृत-कविता में है।

स्पष्ट है कि अर्वाचीन-संस्कृत-काव्य का स्त्री-विमर्श नव-प्रयोग की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पारम्परिक-संस्कृत-कविता में नारी का उल्लेख प्रायः केवल काम-वासना का शमन करने वाली अभिसारिकाओं एवं प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति में भी निर्वहन करने वाली स्वामिभक्ता स्त्रियों के रूप में मिलता है जबकि समकालिक संस्कृत काव्य में नारी जहाँ एक ओर उच्च आदर्शों का प्राणपण से निर्वहन करती है वहीं दूसरी ओर समस्त वेदनादायिका वर्जनाओं का प्रभंजन करती हुई अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के संस्थापन एवं स्वाभिमान के संरक्षण हेतु भी कृत-संकल्प है।

सन्दर्भ स्रोत :

- 1 तदेव गगनं सवै धरा, प्रो० श्री निवास रथ, पृ० 129 (राष्ट्रीय संस्कृत-संस्थान, दिल्ली प्रथम संस्करण, 1995)
- 2 भारतोदयः वर्ष 84 अंक 4, पृ० 13
- 3 संस्कृत साहित्यः बीसवीं शताब्दी, पृ० 36
- 4 4सर्वगन्धा, 10/12 (मार्च 1987), पृ० 12
- 5 काक्षेण विक्षीतम्, पृ० 52
- 6 काक्षेण विक्षीतम्, पृ० 56
- 7 संस्कृत साहित्यः बीसवीं शताब्दी, पृ० 142
- 8 तव स्पर्श-स्पर्श, पृ० 110
- 9 वागीश्वरीकण्ठसूत्रम्, पृ० 105
- 10 आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, लघुकाव्य (प्रो० हरिदत्त शर्मा), पृ० 221
- 11 त्रासदी, अनुभूतिः, पृ० 21-22, डॉ० प्रवेश सक्सेना
- 12 निर्झरिणी, पृष्ठ 80
- 13 आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, लघुकाव्य (प्रो० हरिदत्त शर्मा), पृ० 221
- 14 ऋतुपर्णा, (बनमाली बिष्वाल), पृष्ठ 31
- 15 काक्षेण वीक्षितम्, पृष्ठ 66
- 16 भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि, पृष्ठ 71
- 17 आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास-(लघुकाव्य, पृ० 162)

स्मृति शुक्ला

प्रवक्ता संस्कृत

राजकीय बालिका इण्टर कालेज,

सिराथू, कौशाम्बी

मो० : 8574823201

E-mail : shuklasmriti978@yahoo.in

भारतीय शिक्षा की गुणवत्ता एवं प्रबन्धन

डॉ० अवधेश कुमार श्रीवास्तव

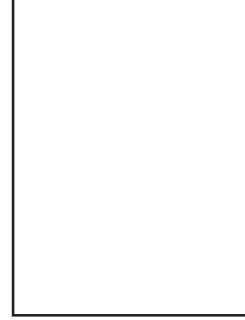
प्राचार्य

रघुवीर महाविद्यालय

रघुवीर नगर थलोई जौनपुर

मो० : 9450896029

E-mail - avadheshkumar.phd@gmail.com



शिक्षा शब्द का सीमित या विस्तृत दोनों अर्थों में इस्तेमाल किया जाता है जो जीवनभर चलती रहती है, और जो जीवन के किसी भी अनुभव से आगे बढ़ सकती है। इस अर्थ में शिक्षण—सामग्री जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मिलती है। शिक्षा की अवधारणा मुख्यतः इस प्रक्रिया पर जोर देती है जिससे व्यक्तित्व विकसित होता है और जिससे हम मनुष्य और मनुष्य के सम्बन्धों को तथा आदमी और ब्रह्मण्ड के सम्बन्धों को पहचानते हैं।

संकीर्ण अर्थ में 'शिक्षा' का मतलब सचेतन रूप से निर्देशित क्रियाकलाप है जो हम स्कूल और कालेज में पाते हैं, वह इसके अन्तर्गत आती है। शिक्षक अपने शिष्यों के समक्ष विचारों और बिम्बों को रखता है ताकि एक खास दिशा में उनका मानसिक और मनोवैज्ञानिक विकास हो। विद्यार्थी शिक्षण संस्थानों में शिक्षा पाने के लिए प्रविष्ट होते हैं। प्रोफेसर डेवी ने अपनी पुस्तक 'डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन' में 'साभिप्राय' शिक्षा का जिक्र इस फर्क को बताने के लिए किया है कि शिक्षा अचेतन से आती है या इसका कोई निश्चित उद्देश्य होता है।'

प्राचीन हिन्दू सामाजिक संरचना का एक आदर्श रूप आश्रम—व्यवस्था है। हिन्दू दर्शन के अनुसार जीवन चार अवस्थाओं या आश्रमों में विभाजित है—ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ एवं संन्यास। विभाजन की यह व्यवस्था धर्मशास्त्रीय अनुमोदन पर आधारित है। इसका उल्लेख उपनिषद में हैं। अतः यह व्यवस्था ईसा से 700 या 800 वर्ष पूर्व में विकसित हुई होगी।

ब्रह्मचर्य आश्रम व्यवस्था का पहला आश्रम है। इसकी अवधि 25 वर्षों तक की मानी गई है। इसका आरम्भ उपनयन संस्कार के बाद ब्राह्मण बालक के लिए 8 वर्ष की आयु से क्षत्रिय बालक के लिए 11 वर्ष की आयु से एवं वैश्य बालक के लिए 12 वर्ष की आयु से ब्रह्मचर्य आश्रम शुरू होता है। ब्रह्मचर्य दो शब्दों से बना है—ब्रह्म एवं चर्य। ब्रह्म का अर्थ होता है महान तथा चर्य का अर्थ विचरण करना। इस रूप में ब्रह्मचर्य का अभिप्राय ऐसे मार्ग पर चलना जिससे पुरुष शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से महान हो सकते हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम में बालक उपनयन संस्कार के बाद गुरुकुल में गुरु के साथ 25 वर्षों तक निवास करता था। इस आश्रम में बालक का मूल कर्म स्वयं पर नियंत्रण, अध्ययन—अध्यापन, प्रशिक्षण व शारीरिक—मानसिक आध्यात्मिक विकास रहा तथा मूल धर्म गुरु सेवा रहा। इस आश्रम के कर्म व धर्म को पूरा करने के बाद बालक स्नातक बनता था।²

प्राचीन भारतीय सभ्यता विश्व की सर्वाधिक रोचक तथा महत्वपूर्ण सभ्यताओं में से एक है। प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास का साधन है। इसका उद्देश्य मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना नहीं था अपितु मनुष्य के स्वास्थ्य का भी विकास करना था। प्राचीन शिक्षा पद्धति का प्रमुख उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना तथा व्यक्तित्व का विकास करना था। नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान, सामाजिक सुख तथा कौशल की वृद्धि, संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसार, निष्ठा तथा धार्मिकता का संचार करना था।

ऋग्वैदिक अथवा पूर्व वैदिक काल में शिक्षा का मुख्य पाठ्यक्रम बौद्धिक सभ्यता का अध्ययन ही था। पवित्र वैदिक ऋचाओं के अतिरिक्त इतिहास, पुराणा तथा गाथाएं एवं खगोल विद्या, ज्यामिति, छन्दशास्त्र आदि अध्ययन के विषय थे। वैदिक साहित्य का अध्ययन भी नौ या दस वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता था। इस युग के स्नातक वेदों तथा 18 शिल्पों में निपुण होते थे। 18 शिल्प निम्नलिखित थे।

- | | | | |
|--------------------------------------|---|----------------------------------|--------------|
| 1. गायन | 2. वादन | 3. चित्रकला | 4. गणित |
| 5. नृत्य | 6. गणना | 7. यन्त्र | 8. मूर्तिकला |
| 9. कृषि | 10. पशुपालन | 11. वाणिज्य | 12. चिकित्सा |
| 13. विधि | 14. प्रशासनिक प्रशिक्षण | 15. धनुर्विद्या तथा सैनिक शिक्षा | |
| 16. जादूगरी | 17. सर्पविद्या तथा विष दूर करने की विधि | | |
| 18. छिपे हुए धन के पता लगाने की विधि | | | |

वात्स्यायन के कामसूत्र से 64 कलाओं का उल्लेख मिलता है, जिनका अध्ययन सुसंस्कृत महिला के लिए अनिवार्य बताया गया है। ये पाकविद्या, शारीरिक प्रसाधन, संगीत, नृत्य, चित्रकला, सफाई, सिलाई-कढ़ाई, व्यायाम, मनोरंजन आदि से सम्बन्धित है। कामसूत्र के अतिरिक्त कादम्बरी, शुक्रनीतिसार, ललितविस्तार आदि में भी 64 कलाओं का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के विवरण से पता चलता है कि यहाँ शिक्षा के पाठ्यक्रम में चार वेद, छः वेदांग, 14 विधाएं, 18 शिल्प, 64 कलाएं आदि सम्मिलित थे। हवेनसांग अल्बरुनी के विवरण से पता चलता है कि व्याकरण तथा ज्योतिष की शिक्षा का भारत में बहुत अधिक प्रचलन था।

वैदिक युग के आरम्भ में शिक्षा मौखिक होती थी। पवित्र मन्त्रोंको कंठस्थ करने पर बल दिया जाता था। पुरोहितवर्ग के लोग विशेष रूप से मन्त्रों को याद कर लिया करते थे। सामान्य जन केवल कुछ प्रसिद्ध मन्त्रों को ही याद किया करता था। "निरुक्त" में ऐसे व्यक्ति की निन्दा की गई है जो कि मन्त्रों की व्याख्या बिना जाने ही याद कर लेते थे। शास्त्रार्थ के निमित्त गोष्ठियों का आयोजन किया जाने लगा, जिसमें विद्यार्थी बहुधा भाग लिया करते थे। विद्वान वही माना जाता था जिसकी जिहवा पर समस्त विषय रटे हुये हों। प्राचीन काल के लेखक भी यही अभिलाशा रखते थे कि उनकी रचनाएं विद्वानों का कष्टाभूषण बनें।

प्राचीन भारतीय शिक्षा का एक प्रमुख तत्व गुरुकुल व्यवस्था है। इसमें विद्यार्थी अपने घर से दूर गुरु

के घर पर निवासकर शिक्षा प्राप्त करता था। कभी-कभी वह शिक्षा केन्द्रों से सम्बद्ध छात्रावासों में निवास कर करता था। धर्मग्रन्थों में विहित है कि विद्यार्थी उपनयन संस्कार के साथ ही गुरुकुल में निवास करें तथा विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त करें। गुरु के समीप रहते हुए विद्यार्थी उसके परिवार का सदस्य हो जाता था तथा गुरु उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था। गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता था। गुरु की सेवा करना उसका परम कर्तव्य था। उसकी सेवाओं के बदले गुरु विविध विधाओं और कलाओं की शिक्षा प्रदान करता था।

बौद्ध धर्म की उन्नति के साथ-साथ विहार भी शिक्षा के केन्द्र बन गये थे तथा कुछ ख्याति प्राप्त महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के रूप में विकसित हो गये थे। प्राचीन भारत के प्रमुख विश्वविद्यालयों का विवरण इस प्रकार है—

1. नालन्दा विश्वविद्यालय— प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्रों में नालन्दा विश्वविद्यालय का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। बिहार प्रान्त कीराजधानी पटना के दक्षिण में लगभग 40 मील की दूरी पर आधुनिक बडगांव नामक ग्राम के समीप यह स्थित था। राजगृह से नालन्दा की दूरी लगभग 8 मील है। सर्वप्रथम यहाँ एक बौद्ध विहार की स्थापना गुप्तकाल में करवाई गई। चीनी यात्री ह्वेनसांग लिखता है कि इसका संस्थापक “शक्रादित्य” था जिसने बौद्ध धर्म के त्रिरत्नों के प्रति महती श्रद्धा के कारण इसकी स्थापना करवाई थी। यद्यपि नालन्दा महायान बौद्ध धर्म की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, तथापि यहाँ अन्य अनेक विषयों की शिक्षा भी समुचित रूप से प्रदान की जाती थी। पाठक्रम में महायान तथा बौद्ध धर्म के अठारह सम्प्रदायों के ग्रन्थों आदि की शिक्षा व्याख्यानों के माध्यम से दी जाती थी।

2. बल्लभी विश्वविद्यालय— गुजरात के कठियावाड़ क्षेत्र में आधुनिक ‘बल’ नामक स्थान पर स्थित बल्लभी पश्चिम भारत में शिक्षा तथा संस्कृत का प्रसिद्ध केन्द्र था। जहाँ नालन्दा कोटि का एक विश्वविद्यालय था। इस नगर की स्थापना मैत्रक शासक भट्टार्क ने किया था। यहाँ मैत्रक राजवंश की राजधानी थी। सातवीं शती में बल्लभी एक प्रसिद्ध व्यापारिक एवं शैक्षणिक केन्द्र बन गया। ह्वेनसांग इस नगर की समृद्धि का वर्णन करता है। उसके अनुसार यहाँ एक सौ बौद्ध विहार थे जिनमें लगभग 6000 हीनयानी भिक्षु निवास करते थे। नगर की परिधि छः मील के घेरे में थी।

3. विक्रमशिला विश्वविद्यालय— विहार प्रान्त के भागलपुर जिले में स्थित विक्रमशिला नालन्दा के ही समान एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का शिक्षा केन्द्र रहा है। इसकी स्थिति भागलपुर से 24 मील पूर्व की ओर पत्थरघाट नामक पहाड़ी पर बतायी गयी है। जहाँ से प्राचीन काल के विस्तृत खण्डहर प्राप्त होते हैं। विक्रमशिला के महाविहार की स्थापना पाल नरेश धर्मपाल (775–800 ई०) ने करवाई थी। उसने यहाँ मन्दिर तथा मठ बनवाये और उन्हें उदारतापूर्वक अनुदान किया। यहाँ 160 विहार तथा व्याख्यान के लिए अनेक कक्ष बने हुए थे। विक्रमशिला विश्वविद्यालय में छः महाविद्यालय थे। प्रत्येक में एक केन्द्रीय कक्ष तथा 108 अध्यापक थे। केन्द्रीय कक्ष को विज्ञान भवन कहा जाता था। प्रत्येक महाविद्यालय में एक प्रवेश द्वारा होता था तथा प्रत्येक द्वार पर एक-एक पंडित बैठता था। द्वारपंडित के परीक्षण करने के बाद ही महाविद्यालय में प्रवेश होता था। कनिष्क के

शासनकाल में निम्नलिखित द्वारपंडितों के नाम हमें मिलते हैं—

1. पूर्व द्वार — आचार्य रत्नाकर शान्ति
2. पश्चिमी द्वार — वागीश्वर कीर्ति(वाराणसेय)
3. उत्तर द्वार — नरोप
4. दक्षिण द्वार — प्रज्ञाकरमति
5. प्रथम केन्द्रिय द्वार — रत्नब्रज(कश्मीरी)
6. द्वितीय केन्द्रीय द्वार — ज्ञानश्रीमित(गौडीय)

विश्वविद्यालय में अध्ययन के विशेष विषय व्याकरण, तर्कशास्त्र, मीमांसा, तन्त्र, विधिवाद आदि थे। आचार्यों में दीपशंकर श्री ज्ञान का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है जो इस विश्वविद्यालय के कुलपति थे। इस प्रकार विक्रमशिला ग्यारहवीं-बारहवीं शती में भारत का सर्वाधिक सम्पन्न सुसंगठित तथा प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय था।³

प्राचीन शिक्षा पद्धति में आधुनिक युग की भाँति परीक्षा लेने तथा उपाधि प्रदान करने की प्रथा का अभाव था। विद्यार्थी गुरु के सीधे सम्पर्क में रहते थे। अध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन नामक संस्कार आयोजित होता था तत्पश्चात् छात्र एक विद्वत्मण्डली के सामने प्रस्तुत किया जाता था। वहाँ उसके अध्ययन से सम्बन्धित कुछ गूढ़ प्रश्न पूछे जाते थे तदन्तर वह स्नातक बन जाता था।

उपाधि प्रदान करने की प्रथा मध्यकाल की उपज है। तारानाथ के विवरण से पता चलता है कि बंगाल के पाल शासक विक्रमशिला के छात्रों की अध्ययन की समाप्ति पर सनद(क्वचसवउद्ध प्रदान करते थे। विद्वत्परिषद द्वारा 'तर्कचक्रवर्ती' तथा 'तर्कलंकार' जैसी उपाधियाँ प्रदान की जाती थी। किन्तु प्राचीनकाल में इस प्रकार की कोई प्रथा नहीं थी। प्राचीन काल के छात्रों का उद्देश्य आधुनिक युग के छात्रों की भाँति उपाधियों के पीछे दौड़ना नहीं था।

4. **उडयन्तपुर महाविहार**—इस महाविहार के स्थापना पाल वंश के प्रवर्तक राजा गोपाल ने की। यह महाविहार धीरे-धीरे उन्नति करता रहा। बारहवीं सदी में यह शिक्षा का बड़ा केन्द्र बन गया। इसमें हजारों आचार्य और विद्यार्थी रहते थे। यह महाविहार एक दुर्ग के समान था। 1199 ई0 में मोहम्मद विन बख्तियार खिलजी ने इस पर आक्रमण किया। महाविहार के आचार्यों एवं विद्यार्थियों ने डटकर मुस्लिम सेना का मुकाबला किया और लड़ते-लड़ते वे सब मर गये। मोहम्मद ने वहाँ के पुस्तकालय को जला दिया और महाविहार का नाश कर दिया।⁴

आज के विकसित परिवर्तनशील समाज में जैसे- जैसे धार्मिक नियमों, प्रथाओं तथा परम्पराओं का प्रभाव कम होता जा रहा है, शिक्षा को सामाजिक नियन्त्रण के अधिक प्रभावपूर्ण उपकरण के रूप में देखा जाने लगा है। शिक्षा केवल सामाजिक करण की ही एक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि सामाजिक और संस्कारित मूल्यों को आगामी पीढ़ियों तक पहुंचाने तथा विभिन्न समस्याओं का हल ढूँढने में भी इसे सबसे अच्छे माध्यम के रूप

में देखा जाता है। शिक्षा केवल सैद्धान्तिकरण ही नहीं है। इसका व्यवहारिक मूल्य इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करने तथा व्यक्तिगत व्यवहारों में सन्तुलन बनाये रखने के क्षेत्र में शिक्षा एक अत्यधिक प्रभावशाली माध्यम सिद्ध हुआ है। सामाजिक नियन्त्रण के दूसरे साधन जहाँ प्रचार, दबाव, उत्पीड़न और तिरस्कार को महत्व देते हैं, वहीं शिक्षा तर्क, विवेक और यथार्थता का ज्ञान कराकर अनौपचारिक रूप से व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखती है।^९

आज के परिवेश में शिक्षा बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ होती है एवं विभिन्न शैक्षणिक संस्थानों द्वारा यह शिक्षा प्रदान की जाती है। प्राचीन काल की शिक्षा और वर्तमान काल की शिक्षा में प्रमुख अन्तर यह है कि वह मौखिक थी और यह लिखित है। आज वर्तमान में विश्व की जनसंख्या का एक बड़ा भाग गरीबी रेखा के नीचे जी रहा है एवं अज्ञानता का शिकार है जिसके कारण वह निरक्षरता के अभिशाप से ग्रसित है। अतः आज इस बात के लिए प्रयत्नशील रहना है कि हमारे देशवासी शिक्षित हों। इस हेतु कई कल्याणकारी योजनाएं चलाई जाती हैं। जिसमें से प्रौढ़ शिक्षा एक है। सामान्यतः 40 वर्ष या इससे अधिक उम्र के व्यक्ति को प्रौढ़ माना जाता है। प्रौढ़ों को दी जाने वाली शिक्षा ही प्रौढ़ शिक्षा कहलाती है। इसके अलावा आज की दूसरी प्रमुख शिक्षा 'औपचारिकेतर' शिक्षा है जो मान्यता प्राप्त एवं योजनाबद्ध पद्धति पर आधारित है किन्तु इसका शिक्षण क्षेत्र संस्थागत नहीं होता है। इसका मुख्य क्षेत्र व्यवसाय तथा व्यक्ति का कार्य क्षेत्र होता है तथा इसमें उन लोगों को प्राप्त करने का अवसर दिया जाता है जिन्होंने विद्यालयीय या संस्थागत शिक्षा विल्कुल प्राप्त नहीं की या उसे अधूरा छोड़ दिया है। सामान्यतः इसका मुख्य क्षेत्र ग्रामीण होता है और औपचारिकेतर शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति की मनोवृत्ति, अवधारणा बौद्धिक स्तर तथा कार्यक्षमता में परिवर्तन लाया जाता है। इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य निर्धनों व स्त्रियों को लाभ पहुँचाना, उन्नत जीवन स्तर बनाने में सहायक, राष्ट्रीय विकास में सहायक, व्यवहारिक मूल्यांकन लचीलापन, स्थानीय व्यक्तियों व स्वयं सेवी संस्थाओं का योगदान, दार्ढकालीन प्रभाव, आवश्यकता मूलक शिक्षण, नवाचार और सहभागिता एवं व्यक्तिगत विकास है।

सन् 1950 के अन्त तक क्षेत्रीय स्तर पर सामुदायिक मन्त्रालय के तत्वाधान में पुनश्चर्या पाठ्यक्रम तथा शिक्षण केन्द्र की व्यवस्था की गई। बाद में आवश्यकतानुसार सरकारी तथा गैर सरकारी कार्यकर्ताओं के लिए भी प्रशिक्षण व्यवस्था की गई। साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत विषय विशेषज्ञों को भी प्रशिक्षित करने का उपक्रम बनाया गया। प्रसारकर्मियों हेतु ग्रामीण स्तर पर देश में 100 ग्राम सेवक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई जिसमें सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों की गहनतम प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई।^{१०}

इस प्रकार भारतीय शिक्षा की गुणवत्ता एवं प्रबन्धन प्राचीन काल से लेकर आज आधुनिक काल तक स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है। दोनों का मौलिक अन्तर भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. समाजशास्त्र— गोपीरमण प्रसाद सिंह, मिश्रा ट्रेडिंग कॉरपोरेशन,
मैदागिनी वाराणसी। पेज नं० 22,23
2. समाजशास्त्र— परिमल बी० कर, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स,
पेज नं० 469,470
3. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, डॉ० कृष्ण चन्द्र श्रीवास्तव,
यूनाइटेड बुक डिपॉ 21 यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद पेज नं०
766,770,771,773,777
4. प्राचीन भारत का इतिहास, विद्याधर महाजन, एस० चन्द्र एण्ड
कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली, पेज नं० 672
5. समाजशास्त्र— जी० के० अग्रवाल, एस०बी०पी०डी० पब्लिशिंग हाउस,
आगरा पेज नं० 33,35
6. प्रासार एवं संचार— डॉ० मंजु पाटनी, डॉ०वी० डी० हरपालानी,
स्टार पब्लिकेशन्स

डॉ० अवधेश कुमार श्रीवास्तव

प्राचार्य

रघुवीर महाविद्यालय

रघुवीर नगर थलोई जौनपुर

मो० : 9450896029

E-mail - avadheshkumar.phd@gmail.com



वेदों में पर्यावरण-संरक्षण

डॉ० चन्द्रकान्त मिश्र

असिस्टेन्ट प्रोफेसर

राजकीय महाविद्यालय

डुमरियागंज, सिद्धार्थनगर

मो० : 94158552180

E-mail :ckmishra00@gmail.com



पर्यावरण से तात्पर्य परितः आवरण से है, जो मनुष्य को चारों तरफ से आवृत करता हुआ उसके जीवन को पूर्णतया प्रभावित करता है। पर्यावरण का अभिप्राय उस हवा से है जिसमें हम साँस लेते हैं, उस पानी से है जिसे हम पीते हैं। इसका अभिप्राय नदियों और जंगलों से है तथा उन असंख्य जीवों से है, जो विश्व की भूमि, वायु तथा पानी में वास करते हैं। इसका अभिप्राय संस्कृति, परम्पराओं एवं प्रथाओं तथा मानव-जाति की उस विविधता से है जो जनजातियों से लेकर अज्ञातप्राय समुदायों में उनकी विलक्षण शैलियों के रूप में विद्यमान है।

विश्वव्यापी उष्णता का बढ़ता स्तर, ओजोन-परत का क्षय और जैव-विविधता की गम्भीर क्षति ने सभी को पर्यावरण पर बढ़ते खतरों के प्रति सजग बनाया है। 1972 में स्टॉकहोम में "विश्व पर्यावरण सम्मेलन" आयोजित किया गया जिसमें बढ़ रहे पर्यावरण-प्रदूषण के प्रति गहरी चिन्ता व्यक्त की गयी और प्रदूषण को रोकने तथा पर्यावरण-संरक्षण के लिए उपाय सोचे गये। भारत भी पर्यावरणीय प्रदूषण के प्रति सचेष्ट हुआ तथा 23 मई, 1986 ई० को भारत में "पर्यावरणीय संरक्षण और सुधार अधिनियम" पारित कर देश में लागू किया गया।

वर्तमान युग में मनुष्य पर्यावरण-प्रदूषण की जिस समस्या का सामना कर रहा है, हमारे वैदिक-ऋषियों ने सहस्रों वर्ष पूर्व ही इस पर्यावरणीय प्रदूषण के समाधानार्थ मानव-समाज का दिग्दर्शन किया था। जैविक एवं अजैविक परिस्थितियों के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित करके ही पर्यावरण-संरक्षण किया जा सकता है। इस सामंजस्य की निदर्शना वेदों में विशद रूप से की गयी है। कल्याणकारी संकल्पना, शुद्ध आचरण, निर्मल वाणी एवं सुनिश्चित गति क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद की प्रमुख विशेषतायें मानी जाती हैं और पर्यावरण-संरक्षण भी मुख्यतः इन्हीं विशिष्टताओं पर अवलम्बित है।

वेदों में जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि, वनस्पति, आकाश आदि के प्रति असीम श्रद्धा प्रकट करने पर अत्यधिक बल दिया गया है। वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण के प्रति मानव को सचेत ही नहीं किया, वरन् उसके संरक्षण के लिये प्रेरित भी किया। पर्यावरण की सुरक्षा के निमित्त उसे धार्मिक आस्था से जोड़कर निरन्तर संरक्षण एवं संवर्धन का मार्ग प्रशस्त किया। तत्त्वदर्शी ऋषियों के निर्देशों के अनुसार जीवन व्यतीत करने पर पर्यावरण-असन्तुलन की समस्या ही उत्पन्न नहीं हो सकती है। पर्यावरण में हुए अवांछनीय परिवर्तनों के कारण जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, मृदा-प्रदूषण, इलेक्ट्रॉनिक-प्रदूषण, रेडियोधर्मी-प्रदूषण की समस्यायें सर्वत्र व्याप्त हैं।

जल जीवन का प्रमुख तत्त्व है। वेदों में अनेक स्थानों पर उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त (10/75) ही नदियों की स्तुति में है। इसी वेद में 'अप्सु अन्तः अमृतम्, अप्सु भेशजं'³ के रूप में जल को अमृत तथा औषधि बताकर उसका वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया गया है। अतः जल की शुद्धता एवं स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक है। अथर्ववेदीय पृथ्वी सूक्त में जल तत्त्व पर विचार करते हुए उसकी शुद्धता को मानव-जीवन के लिए नितान्त आवश्यक माना गया है- "शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु"⁴। इस प्रकार भूमि में सरसता तथा पृथ्वी पर हरीतिमा के लिये जल-संरक्षण अपेक्षित है।

**‘वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु
भद्रया प्रिये धामनिधामनि।’⁵**

संसार की प्रत्येक वस्तु को अथर्ववेद का कवि लोकमंगल के लिये विनियोजित करना चाहता है। जल के लिये कहा गया है -

**‘शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु नः।’⁶**

सभी ऋतुओं को अनुकूल रखने का वर्णन भी वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में स्पष्टतः कहा गया है-

‘उतो स मह्यं इडुभिः युक्तान् षट् सेषिधत्।’

वायु में जीवनदायिनी शक्ति है। अतएव उसका संरक्षण पर्यावरण की अनुकूलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वायु वातावरण को पवित्र करने वाला है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है -

‘मह्यं वातः पवताम्’⁷

अर्थात् मुझे वायु पवित्र करे। वेदों में वायु की स्तुति की गयी है, वायु से ही हम श्वॉस लेते हैं, अतः वायुमण्डल की आवश्यक गैसों की मात्रा में सन्तुलन जरूरी है। पादप एवं जन्तु दोनों ही पर्यावरण-सन्तुलन के प्रमुख घटक हैं। इसलिए दोनों का ही सन्तुलित अनुपात में रहना अनिवार्य है। वेदों में वृक्ष-पूजन का विधान है। ऋग्वेद में वनदेवी अरण्यानी को बहुत अन्नों वाली, सबसे महान् तथा समस्त वन्य जन्तुओं की माता कहा गया है। वन के कल्याणकारी होने का उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है -

‘अरण्यं ते पृथ्वी स्योनमस्तु।’⁸

वर्तमान समय में वृक्षों की निर्ममतापूर्वक कटाई से वातावरण में CO₂ की मात्रा में अतिशय वृद्धि हो रही है, जिसके कारण तापमान बढ़ता जा रहा है, जो कि पर्यावरण के लिए संकट का सूचक है।

यजुर्वेद में 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'⁹ के संकल्प के माध्यम से सभी प्राणियों के प्रति सहृदयता व्यक्त की गयी है। सभी प्राणियों, जीवों और पेड़-पौधों के प्रति सन्तुलन पर्यावरण-संरक्षण के लिए

आवश्यक है। यदि हमें महाविनाश से बचना है, तो प्राकृतिक-सन्तुलन को बिगाड़ने की चेष्टा कभी नहीं की जानी चाहिए। नदी को हमेशा सन्तुलन के दो कगारों के बीच ही बहना चाहिए। उसमें व्यवधान उपस्थित होने पर वह आवर्त बना डालती है, किनारों को झकझोरने लगती है, तटबन्ध को तोड़ देना चाहती है। फिर जलप्लावन शुरू हो जाता है, बाढ़ का प्रकोप बढ़ जाता है। अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त में भी जलधारा के दिन-रात बिना प्रमाद के बहने की बात कही गयी है –

“यस्यामापः परिचराः समानी-

रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।”¹⁰

‘माऽपो-मौषधीर्हिंसीः’¹¹ के अनुसार जल तथा वनस्पतियों की हिंसा का निषेध किया गया है।

जल की तरह वायु में अवरोध उत्पन्न होने से भी बवंडर खड़ा हो जाता है, तूफान आ जाता है, जिससे जन-धन की अत्यधिक हानि होती है।

वस्तुतः पर्यावरण-संरक्षण के महत्त्व के प्रतिपादनार्थ ही वेदों में अनेक स्थलों पर जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि आदि का स्तवन किया गया है।

पर्यावरण की शुद्धि में अग्नि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः इसे ‘विश्वशुचो’¹² और ‘पावक’¹³ कहा गया है। ऋग्वेद में अग्नि को पिता के समान कल्याण करने वाला कहा गया है –

‘स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।

सचस्वा नः स्वस्तये ।”¹⁴

वेदमंत्रों का अर्थ विभिन्न श्रौतयागों के प्रसंग में भी प्राप्त होता है। इन यज्ञों के महिमामण्डन से जो निष्कर्ष प्राप्त होता है, उनके मूल में ऋषियों की पर्यावरण के प्रति चेतना ही दृष्टिगत होती है। मुख्यतः वायुशोधन एवं वृष्टि में यज्ञों का महत्त्व स्पष्टतः परिलक्षित होता है। ‘यज्ञोऽयं सर्वकामधुक्’ अर्थात् यज्ञ समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाले होते हैं। याज्ञिक क्रियाओं का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण एवं अध्ययन ‘उत्तर-प्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड’ के वैज्ञानिकों द्वारा किया गया है तथा आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त हुए। यज्ञ से पूर्व वातावरण में सल्फर डाई ऑक्साइड, नाइट्रस ऑक्साइड तथा जल में बैक्टीरिया की उपस्थिति जहाँ अधिक थी, वहीं यज्ञ-सम्पादन के बाद वातावरण में इनकी उपस्थिति में कमी देखी गयी। यज्ञादि भस्मों की राख का विश्लेषण करने पर ज्ञात हुआ कि उसमें फास्फोरस, पोटैशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम तथा नाइट्रोजन आदि भू-उपयोगी रासायनिक तत्वों की अधिकता थी, जो इन क्रियाओं के वैज्ञानिक महत्त्व को प्रदर्शित करती है।

आज हिंसा से विश्व-पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है, उससे कर्म में असन्तुलन उपस्थित हो गया है, इस स्थिति से बचने के लिए वेद-प्रतिपादित सात्विक भाव अपना पड़ेगा –

“स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्या चन्द्रमसाविव ।

पुनर्ददताऽघ्नता जानता सं गमेमहि ।”¹⁵

ऋग्वेद के ऋषि का उद्गार है – “पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय शं योः।”¹⁶ अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी, समग्र परिवेश शुद्ध रहे, नदी, पर्वत, वन, उपवन सब स्वस्थ रहें। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रक्रिया में सूर्य को पिता, पृथ्वी को माता और किरण-समूह को बन्धु के समान आदर देने का स्पष्ट निर्देश है।¹⁷ अथर्ववेद में भी पृथ्वी को माता कहा गया है— ‘माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।’¹⁸

उपर्युक्त सिंहावलोकन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पर्यावरणीय जैविक एवं अजैविक घटकों की सुरक्षा के प्रति चेतना के मूलस्रोत वेद ही हैं। वेदों में लोक-कल्याण की कामना है। प्रकृति के प्रत्येक अंग में शान्ति की अभिव्यक्ति है, विश्व-मंगल की बलवती इच्छा है, क्योंकि प्रकृति सीधी सौम्य गौ तथा रुष्ट सिंहनी दोनों है। यदि उसके साथ सामंजस्य तथा सहयोग का व्यवहार किया गया तो अनन्त काल तक अपने दुग्ध रूपी सम्पदाओं से हमारा पालन-पोषण करेगी, परन्तु शोषण तथा विदोहन की स्थिति में हमें मार डालने में उसे तनिक भी संकोच न होगा। अतएव ऋषियों ने वायु, जल, औषधियों तथा वनस्पतियों आदि पर्यावरणीय घटकों के प्रति जागरूक रहने का सन्देश दिया है तथा इनमें आयी अशुद्धता को दूर करने हेतु प्रेरित किया है, जिसके द्वारा पर्यावरण-संरक्षण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

सन्दर्भ स्रोत :

1. पर्यावरण भारत की भूमिका, प्राक्कथन, पृ0 – 4, कमलनाथ (पर्यावरण एवं वन मन्त्रालय, भारत सरकार, 1995)
2. संस्कृति एवं पर्यावरण, पृ0 152, हरिष्वन्द्र व्यास, 1993
3. ऋग्वेद – 1/23/19⁴.
4. अथर्ववेद – 12/1/30
5. अथर्ववेद – 12/1/52
6. अथर्ववेद – 1/6/1
7. ऋग्वेद – 10/128/2
8. ऋग्वेद – 10/128/2
9. यजुर्वेद – 36/18
10. अथर्ववेद – 12/1/9
11. यजुर्वेद – 6/22
12. ऋग्वेद – 1/12/1
13. ऋग्वेद – 1/12/9
14. ऋग्वेद – 1/1/9
15. ऋग्वेद – 5/51/15
16. ऋग्वेद – 1/189/2
17. ऋग्वेद – 1/164/33
18. अथर्ववेद – 12/1/12

डॉ० चन्द्रकान्त मिश्र

असिस्टेंट प्रोफेसर

राजकीय महाविद्यालय

डुमरियागंज, सिद्धार्थनगर

मो० : 94158552180

E-mail :ckmishra00@gmail.com



अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शान्ति का एक सफल प्रबन्ध

सन्तोष कुमार उपाध्याय

शोध छात्र

राजनीतिशास्त्र विभाग

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, म०प्र०

मो० : 9198108542

Email : santosh83.upadhyay@gmail.com



विश्व इतिहास में कोई भी युग स्थायी शान्ति अथवा स्थायी युद्ध का नहीं रहा है। युद्ध और शान्ति एक दूसरे के बाद आते रहते हैं। कभी युद्ध की भयानकता और कष्टों के समाधान के लिए शान्ति की इच्छा की जाती है और कभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध का आश्रय लिया जाता है। फिर भी प्राचीन काल से ही व्यक्ति की चिन्ता रही है कि स्थायी शान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति सम्भव हो। यदि देखा जाय तो प्रथम विश्व युद्ध के बाद भी यूरोपीय राजनीति में सबसे विकट समस्या सुरक्षा एवं शान्ति की थी। पेरिस शान्ति सम्मेलन में राष्ट्र संघ की स्थापना करके राजनीतिज्ञ इस समस्या का समाधान खोजने का प्रयास कर सके लेकिन अमेरीका द्वारा राष्ट्र संघ से अलग हो जाने की बाध्यता और अन्य यूरोपीय राष्ट्रों की राष्ट्र संघ के प्रति कमजोर और दिखावटी निष्ठा ने इस संगठन द्वारा शान्ति और सुरक्षा की स्थायी स्थापना पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया फिर राष्ट्र संघ सुरक्षा की खोज का एक माध्यम तो था ही। पेरिस शान्ति सम्मेलन में शान्ति सन्धियों पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र फ्रांस की राजधानी से एक गहरी निराशा की भावना लेकर लौटे थे। प्रतिनिधियों के मातिष्क में यह बात बैठी थी कि पेरिस शान्ति सम्मेलन में यूरोपीय सुरक्षा व शान्ति का कोई स्थायी समाधान नहीं है, क्योंकि युद्ध शान्ति को जन्म देता है, शान्ति युद्ध को जन्मदेती है।

प्रथम विश्व युद्ध को विश्व में स्थायी शान्ति के लिए जिन साधनों को आम रूप से स्वीकार किया गया है, उनमें एक है निरस्त्रीकरण जो लोग युद्ध परित्याग को शान्ति का मूल मानते हैं। उनकी धारणा है कि युद्ध इसलिए होते हैं कि युद्धरत राज्यों के पास अस्त्र का भण्डार होता है। अस्त्र भण्डार जितना ही बढ़ा होगा उतने ही युद्ध की सम्भवना बनी रहती है। इसलिए अस्त्रों को समाप्त कर दिया जाय अथवा उनको बिलकुल सीमित कर दिया जाय तो युद्ध नहीं होगा। अस्त्रों की समाप्ति अथवा परिसीमन की इस प्रक्रिया को ही सामान्य निरस्त्रीकरण शान्ति कही जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध में अणुअस्त्रों के प्रयोग से युद्ध की भयानकता का एहसास कर लेने के बाद निरस्त्रीकरण पर और भी ज्यादा जोर दिया जाने लगा। विध्वंसात्मक शास्त्रों के अविष्कारों ने मानव सभ्यता के विनाश के नवीनतम खतरों को जन्म दिया और सारी दुनिया यह महसूस करने लगी है कि यदि कारगर निरस्त्रीकरण नहीं हुआ तो कभी भी मानव सभ्यता नष्ट हो सकती है। इसलिए स्थायी शान्ति का

प्रयास होना चाहिए। लार्ड ग्रे ने कहा था “यदि सभ्यता शसस्त्रों का उन्मूलन नहीं करती तो शसास्त्र ही सभ्यता का उन्मूलन कर देंगे।

यह कहना कि शसास्त्र ही युद्ध को जन्म देते हैं, पूर्णतया सही नहीं है। युद्ध तो मानव मातिष्क की उपज होती है मानव स्वार्थी, स्वहित, यश, लोभ, लालच, सम्मान एवं गौरव को बढ़ाने व उसकी सुरक्षा करने के लिए प्रायः हुआ करते हैं। प्र० शूमाँ के शब्दों में, संघर्ष की आशा शस्त्र होड़ को जन्म देती है युद्ध और युद्ध की सम्भावनाओं से शस्त्र निकलते हैं। फिर भी लोग लम्बे समय से गाड़ी को घोड़े के आगे खड़ा रखने की खोज में हैं।

ये सब कुछ होते हुए भी तनाव कम करने, धन के आय व्यय को रोकने आतंक और शंका के वातावरण से निजात पाने, विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान प्राप्त करने युद्धों की भयानकता को कम करने और कमोवेश युद्ध न होने देने के लिए निरशस्त्रीकरण की आवश्यकता और उसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। यह बात अलग है कि निरशस्त्रीकरण को युद्ध जैसी बड़ी समस्या के समाधान का एक साधन माना जाता है। जबकि निरशस्त्रीकरण स्वयं एक बड़ी समस्या का रूप ले चुका है।

पिछले लगभग 60 वर्षों से तकनीकी क्रान्ति, वैज्ञानिक आविष्कारों, संचार परिवहन में तीव्रता और द्वितीय विश्वयुद्ध की व्यापकता के कारण विश्व के सिकुड़ जाने से राज्यों के आपसी सम्बन्धों का प्रभाव जनजीवन पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ने लगा है। जिससे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति का सम्बन्ध या पड़ोस के सम्बन्ध से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन-अध्यापन भी व्यापक और महत्वपूर्ण होता जा रहा है।²

आधुनिक अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शान्ति की भावना उतनी ही पुरानी है, जितना दुनिया का राजनीतिक इतिहास ईसा पूर्व इतिहास कालिन वर्षों में भी विश्व के विभिन्न देशों के बीच सम्बन्धों का नियमन होता रहा लेकिन उन्हें स्वरूप की दृष्टि से आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध जैसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि एक तो राष्ट्र की अवधारणा विकसित नहीं हो पायी थी। देशों के बीच सम्बन्ध वस्तुतः दो राजाओं के बीच सम्बन्ध थे, संस्था गौण थी, व्यक्ति प्रधान। दूसरे अधिक से अधिक मित्रों की तलाश कर लेना ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का आधार माना जाता था। तीसरा राज्यों की सीमायें स्थायी नहीं थी। चौथा दो देशों के सम्बन्ध स्थायी नहीं थे। पाचवाँ दुनिया बहुत छोटी थी या यह कह ले कि कई छोटी-2 दुनिया थी।⁴

राष्ट्र अन्योन्याश्रित है इसका अर्थ कि राष्ट्र परस्पर इतने निर्भर हैं कि एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों से अलग-गैँव का जीवन व्यतीत नहीं कर सकता 3000 वर्ष पहले यूनानी दार्शनिक अरस्तु ने ‘स्वयं पर्याप्त’ राज्य की कल्पना की थी। परन्तु अरस्तु के युग में आवागमन और संचार के साधन इतने आविकसित थे और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क इतने सीमित थे कि राज्य एक सीमा तक आत्मनिर्भर और स्वयंपर्याप्त हो सकते थे। धीरे-धीरे आवागमन और संचार के साधन विकसित होते गये। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सम्पर्क बढ़ते गये विशेष रूप से औद्योगिक क्रान्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सम्पर्कों की मात्रा और विविधता निरन्तर तेजी से बढ़ती गयी जिसके कारण सभी

राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था इतनी जटिल और परस्पर निर्भर हो गयी कि कोई राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर और स्वयं पर्याप्त नहीं रह गया है। व्यापार और वाणिज्य के स्वर्ण सूत्रों ने सम्पूर्ण विश्व को बाजार स्थल की तरह एकता प्रदान कर दी है। आर्थिक रूप से राष्ट्रीय सीमाओं का अन्त हो गया है। एक राष्ट्र का निर्णय सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकते हैं, तथा विश्व व्यापार के उतार चढ़ाव किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर निर्णायक प्रभाव डाल सकते हैं। उदाहरण के लिए 1970 के दशक से तेल उत्पादक राष्ट्रों के द्वारा तेल की कीमतों में नैक द्वारा बार-बार वृद्धि किये जाने से विश्व के लगभग सभी देशों की अर्थव्यवस्था पर गम्भीर प्रभाव पड़े हैं। विशेष रूप से भारत जैसे विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था को गम्भीर संकट का सामना करना पड़ा है।⁵

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा राज्य परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उन्हें विकसित करते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ इन सम्बन्धों के संचालन को व्यवस्थित रूप और निरन्तरता प्रदान करने के लिए रची जाती हैं। ये प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की परम्परागत व्यवस्था में निहित आतिवादी विकेन्द्रीकरण के प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करती हैं ये राष्ट्रों की अन्योन्याश्रितता की बढ़ती हुई जटिलता से उद्भूत होती हैं वर्नर लेवी के अनुसार "राष्ट्रों में उत्तरोत्तर बढ़ने वाली अन्योन्याश्रितता की वह शक्ति है जो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने के लिए प्रेरित करती है" ⁶ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के स्थापना के लिए एक और तत्व आवश्यक है, और वह विश्व समाज का विकास अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तभी अपने बहुपक्षीय उद्देश्य को पूरा करने में समर्थ हो सकता है, जब वह किसी प्रकार के विश्व राज्य में विकसित हो जाये। मारगेन्थाऊ के अनुसार " इस निष्कर्ष से नहीं बचा जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एक विश्व राज्य के बिना स्थायी नहीं हो सकती क्योंकि कोई राज्य तब तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक कि उसका भार उठाने में समर्थ और इच्छुक समाज न हो, अतः उसका भार उठाने में समर्थ और इच्छुक विश्व समाज के बिना विश्व राज्य स्थापित नहीं हो सकता।"

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास को बहुधा अन्तर्राष्ट्रीयवाद, "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श की विजय के रूप में देखा जाता है, परन्तु व्यवहार में आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन किसी विशिष्ट आदर्शवाद का प्रतिफल कम और ऐतिहासिक आवश्यकता का शिशु आधिक था।

चार्ल्स पी० श्लीचर के अनुसार—

' अन्तर्राष्ट्रीय संगठन इसलिए पाये जाते हैं क्योंकि हम एक अन्योन्याश्रित जगह में रहते हैं, जिसमें मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तब तक नहीं हो सकती है जब तक कि उसके जीवन के कुछ निश्चित पहलुओं को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर संगठित न किया जाए। मनुष्य की मुख्य आवश्यकताएँ सुरक्षा व समृद्धि हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए वह शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग चाहता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रगति क्रम के पीछे दो मुख्य लक्ष्य रहे हैं, युद्ध और प्रतिबन्ध व मनुष्य की सामाजिक व आर्थिक दशा में सुधार। धनवान राष्ट्र बिल्कुल

स्वाभाविक रूप से शान्ति और सुरक्षा पर जोर देते हैं जबकि निर्धन राष्ट्र अपने नागरिकों के आर्थिक और सामाजिक सुख की अभिवृद्धि पर बल देते हैं।⁸

भारतीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी जी ने जापान के उद्योगपतियों को यदि भारत में उद्योग लगाने की बात करते हैं तो इसका सीधा सा मतलब यह होता है कि दुनिया में सुख, शान्ति और समृद्धि विस्तारवादी विचारधारा से नहीं हो सकता बल्कि विकासवादी नीति से हो सकता है। अर्थात् विश्व सरकार के द्वारा विश्व शान्ति की स्थापना की जा सकती है।

सभी मानव संस्थाएँ आवश्यकता के कारण ही अस्तित्व में आ सकी हैं। इसका अपवाद अन्तर्राष्ट्रीय तमाम संगठन भी नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का उदय शान्ति की खोज का परिणाम है शान्ति की इच्छा उतनी ही प्राचीन है जितनी की मानव सभ्यता है। सभ्यता के प्रारम्भिक युग में भारतीय ऋषियों ने शान्ति की कामना करते हुए प्रार्थना की थी।—

“औद्योः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः पृथिवी शान्ति रापः शान्ति : रोषधयः

शान्ति : वनस्पतयः शान्ति विश्वेदेवाः शान्ति ब्रह्मा शान्तिः सर्व

शान्तिः शान्ति रेव शान्ति : सा मा शान्तिरेधी।”

अर्थात् आकाश में शान्ति हो, अन्तरिक्ष में शान्ति हो, पृथ्वी पर शान्ति हो, जल में शान्ति हो, औषधियों में शान्ति हो, वनस्पति में शान्ति हो, प्रकृति की समस्त शक्तियाँ हमें शान्ति दे। भगवान हमें शान्ति प्रदान करें। सर्वत्र शान्ति और केवल शान्ति का राज्य हो। वह शान्ति हमें प्राप्त हो।”¹¹

परन्तु जब तक युद्ध राजाओं और सेनाओं की ही चिन्ता का विषय रहें, जब तक सामूहिक विनाश के शस्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए संस्थाओं की आवश्यकता और मांग बहुत प्रवल नहीं हुई। परन्तु जैसे-जैसे युद्धों की भयंकरता और विनाश— लीला बढ़ती गई वैसे-वैसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाये रखने के लिए किसी उपयुक्त अभिकरण की आवश्यकता और मांग बढ़ती गई। बीसवीं शताब्दी में प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध ने मानव इतिहास के पिछले सभी युद्धों को जन-धन के विनाश में मीलों पीछे छोड़ दिया। उसकी विनाश लीला ने शान्ति स्थापना के अभिकारणों की खोज को इतनी तीव्रता प्रदान की कि राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे संस्थाओं का उदय हुआ जिन्होंने पिछले तीन सौ वर्षों से चली आ रही राज्य व्यवस्था के स्वरूप को एक नई पहचान प्रदान की। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विश्व शान्ति की समस्या का एकमात्र साधन नहीं है परन्तु कोई इससे श्रेष्ठतर विकल्प भी नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थायी रूप से प्राप्ति के लिए विश्व एकता की रचना आवश्यक है और उसके लिए आवश्यक है एक संस्थापित विश्व व्यवस्था की स्थापना की जाये। विश्व एकता की प्राप्ति दो अन्य प्रकार से भी की जा सकती है। एक तो साम्राज्य रचना द्वारा दूसरी आखिल विश्ववाद के द्वारा। परन्तु राष्ट्र राज्यों के विश्व में विश्व साम्राज्य या अखिल विश्ववाद

के द्वारा विश्व एकता की प्राप्ति अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के द्वारा उसकी प्राप्ति से भी कहीं अधिक दुष्कर होगी।⁹

विश्वशान्ति की प्राप्ति के लिए विश्वसंघ राज्य की स्थापना आवश्यक है, इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है परन्तु क्या विश्वसंघ राज्य की स्थापना सम्भव है? यह एक विवाद का विषय है। वी०एम० शर्मा का मत है कि एक संघ राज्य की स्थापना के लिए छः पूर्व दशाएँ आवश्यक होती हैं।

- (1) संघ में सम्मिलित होने वाले प्रदेशों में भौगोलिक समीपता होनी चाहिए।
- (2) सभी सदस्य राज्यों में लोकतान्त्रिक प्रणाली होनी चाहिए।
- (3) सभी सदस्य राज्यों में समानता का सिद्धान्त होना चाहिए।
- (4) सर्वमान्य आदर्श होना चाहिए जो संघ की विधायक ईकाइयों के लिए मान्य हो।
- (5) संघ की ईकाइयों में निष्पक्ष न्याय का सिद्धान्त हो।
- (6) संघ में सम्मिलित होने वाली ईकाइयों में संघ की रचना करने की तीव्र इच्छा हो।

वी० एम० शर्मा का मत है कि ये आवश्यक पूर्व दशाएँ विश्व संघ राज्य के सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं हैं। अतः उसकी स्थापना सम्भव नहीं है पहला— विश्व के विभिन्न भागों में भौगोलिक समीपता नहीं है। दूसरा न केवल बहुत से देशों में लोकतान्त्रिक शासन पद्धति को अपनाया गया है वरन् उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद जो लोकतन्त्र की की विरोधी संस्थाएँ हैं अभी भी प्रबल हैं। तीसरे विश्व के राज्यों में समानता का सिद्धान्त स्वीकृत नहीं हुआ है। जैसे सुरक्षा परिषद् में कुछ सदस्यों को बड़ा मानकर निषेधाधिकार प्रदान करना आदि। चौथे विश्व संघ राज्य की स्थापना जिस आदर्श की प्राप्ति के लिए की जानी है वह आदर्श है, विश्वशान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति। यह निःसन्देह एक उत्तम आदर्श है परन्तु इस आदर्श को व्यवहारिक बनाने के लिए समझौते और पारस्परिक त्याग की भावना की होना आवश्यक है। इस भावना का विश्व के राष्ट्रों में नितान्त आभाव है पाँचवे विश्व के गैर लोकतान्त्रिक राज्यों में ही नहीं वरन् लोकतान्त्रिक राज्यों में भी निष्पक्ष न्याय की भावना का इतना आभाव है कि एक विश्व संघ राज्य में यदि प्रत्येक घन्टे में नहीं तो प्रत्येक दिन भी भीषण संघर्ष जरूर होंगे। छठे विश्व के राष्ट्रों में अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करके विश्व संघ राज्य को आवश्यक शक्ति प्रदान करने की ऐच्छिक भावना का आभाव है।¹²

अतः अन्तिम परिणाम अवश्य ही एक विश्व राज्य की स्थापना होगा किसी न किसी प्रकार से विश्व यूनियन की स्थापना आवश्यकभावी है। इसके लिए वैश्विक स्तर पर व्यवस्थापिका की थी एवं व्यवस्थापिका में सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- (1) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास – गैथोर्न हार्डी
- (2) संयुक्त राष्ट्र संघ – वेद प्रकाश सिंह
- (3) दो विश्व युद्ध के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध – ई० एच०कार
- (4) द डिप्लोमेशी ऑफ डिस्आर्मामेण्ट इण्टरनेशनल कान्सलियेशन – जोजेफ नेगी
- (5) अरस्तु – पालिटिक्स बुक, VII चैप्टर 4
- (6) वर्नर लेवी, फन्डामेन्टल्स आफ वर्ल्ड आर्गेनाइजेशन पृ० 8
- (7) मारगेन्थाऊ – पालिटिक्स अमंग नेशन्स संस्करण – 1966 पृ० 513
- (8) चार्ल्स पी० श्लीचा – इन्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ० 145
- (9) An Introduction to the study of International Organization- Pitman B. Potter
- (10) पत्रिकाएँ एवं समाचार पत्र
- (11) Study of International Relation, P 206 - Quincey Wriqht
- (12) वी०एम०शर्मा संघवाद और संघात्मक शासन

सन्तोष कुमार उपाध्याय

शोध छात्र

राजनीतिशास्त्र विभाग

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, म०प्र०

मो० : 9198108542

Email : santosh83.upadhyay@gmail.com



पुस्तक समीक्षा

पुस्तक- 'आत्मा' काण्ट और शंकर की दृष्टि

लेखक- डॉ० राजेश कुमार तिवारी

प्रकाशक- के०के० पब्लिकेशन्स इलाहाबाद

मूल्य- चार सौ पचास रुपये मात्र

पृष्ठ संख्या- 144

मो० : 9450086198



प्रस्तुत पुस्तक में काण्ट और शंकराचार्य के आत्मा सम्बन्धी मत की तुलना एवं समीक्षा की गयी है। डॉ० राजेश कुमार तिवारी ने पुस्तक में भारतीय मनीषियों के शिरोमणि आचार्य शंकर एवं पश्चिमी दर्शन की धुरी एमन्युएल काण्ट के आत्मविषयक विचारों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक पहलुओं को विश्लेषित करते हुए अपनी राय स्पष्ट की हैं। पुस्तक का शीर्षक ही दर्शन शास्त्र एवं मानव जीवन की मूल गवेषणा की तरफ इशारा करता है। पुस्तक में डॉ० तिवारी ने भारतीय परम्परा में आजीवक दर्शन से प्रारम्भ कर समकालीन भारतीय दर्शन के विचारकों के मन्तव्यों को उजागर किया है। आचार्य शंकर और एमन्युएल काण्ट के विचारों को बड़े ही स्पष्ट एवं सरल ढंग से व्याख्यायित करते हुए डॉ० तिवारी ने विषय को पूर्णता प्रदान की है। पुस्तक के अन्तिम भाग में आधुनिक पाश्चात्य विचारकों की समीक्षा भी महत्त्वपूर्ण है जिसको डॉ० तिवारी ने उद्धृत किया है। वस्तुतः किसी पुस्तक की पूर्णता समय के साथ हो रहे बदलावों पर आधारित होती है। आत्मा जैसे विषय भी आज भौतिकवादी दृष्टि से अधिक अन्वेषित किये जा रहे हैं क्योंकि यह तो ऐसा शाश्वत प्रश्न है जिसके उत्तर सहस्रों वर्षों में शताधिक प्रकार से दिये गये हैं फिर भी प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा हुआ है। किसी कवियित्री ने कहा है कि –

“ मैं झुकी रही जवाब सी, तुम सवाल से तने रहे।” शायद सवाल और जवाब का सम्बन्ध ही ऐसा है कि सवाल हमेशा खड़ा रहता है फिर भी हम जवाब देना बन्द नहीं करते। डॉ० तिवारी का यह प्रयास भी उसी जवाब की श्रृंखला में एक सतत प्रयास है। हम यह अपेक्षा तो नहीं कर सकते कि इनके जवाब के बाद प्रश्न सदा के लिए उत्तरित हो जायेगा फिर भी इतना अवश्य है कि इससे यह प्रमाणित होगा कि साहसी मानव प्रजाति ने जवाब देना बन्द नहीं किया है। अकादमिक प्रयासों की सार्थकता इसी बात में है।

चेतना के अध्ययन की एक नवीन विधा विकसित हुई है जिसमें आत्मा को मस्तिष्क

(Brain) और इससे भी आगे बढ़कर कम्प्यूटर की कृत्रिम चेतना को आत्मा का स्थानापन्न बताया जा रहा है। डॉ० तिवारी ने इन बिन्दुओं की चर्चा समकालीन विचारों के साथ-साथ नहीं की है। आचार्य शंकर ने आत्मा की जो विराट अवधारणा की है उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मन, बुद्धि और वाणी से इसे सम्पूर्णता में ग्रहण नहीं किया जा सकता। आचार्य सुरेश्वर ने जब यह कहा था कि सब कुछ आत्मपूर्वक है (सर्वम् आत्म पूर्वकम्) तो इस ओर संकेत तो हो ही गया था कि अगर भविष्य में कम्प्यूटर का युग आयेगा तो वह भी आत्मपूर्वक होगा। इस सम्बन्ध में सभी गवेषणायें अधूरी रह गयी हैं फिर डॉ० तिवारी के प्रयास में अगर न्यूनता रह भी गयी हो तो इसे दोष नहीं मानना चाहिए क्योंकि मुझे लगता है कि डॉ० तिवारी ने शंकराचार्य और सुरेश्वर की उद्धृतियों को पश्चिमी जगत के विचारकों पर लागू करने का प्रयास किया है। मेरी दृष्टि में यह रचना उस मूल्य प्रश्न के तमाम उत्तरों में से एक उत्तर है जो मूल प्रश्न उपनिषद् के ऋषि के मन में उत्पन्न हुआ था – मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? इत्यादि।

समीक्षक - प्रो० जटाशंकर

विभागाध्यक्ष

दर्शन शास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

मो० : 09450961736



SHODH MARTAND

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF HUMANITIES

(HALF-YEARLY RESEARCH JOURNAL)

INDIVIDUAL / INSTITUTIONAL MEMBERSHIP FORM

Name

Designation

Subject /Department

Name of the Institution.....

Contact No. (Personal)

(Institution).....

E-Mail.....

Membership fees (cash)

D.D. No.DATE.....

Name of the Bank &branch.....

A life membership fee is Payable in favour of '**Editor Shodh Martand**' Through cash/D.D.

Kindly sent us the research journal on following Address-

.....

.....

DATE -

SIGNATURE